भारतीय आर्य भाषा परिवार

(Indo-Aryan Language Family)

कामेश्वर यादव

भारतीय आर्य भाषा परिवार

भारतीय आर्य भाषा परिवार
(Indo-Aryan Language Family)

कामेश्वर यादव

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5640-0

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

आपस में सम्बंधित भाषाओं को भाषा-परिवार कहते हैं। कौन भाषाएँ किस परिवार में आती हैं, इनके लिये वैज्ञानिक आधार हैं। इस समय संसार की भाषाओं की तीन अवस्थाएँ हैं। विभिन्न देशों की प्राचीन भाषाएँ जिनका अध्ययन और वर्गीकरण पर्याप्त सामग्री के अभाव में नहीं हो सका है, पहली अवस्था में हैं। इनका अस्तित्त्व इनमें उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों, सिक्कों और हस्तलिखित पुस्तकों में अभी सुरक्षित है। मेसोपोटेमिया की पुरानी भाषा 'सुमेरीय' तथा इटली की प्राचीन भाषा 'एत्रस्कन' इसी तरह की भाषाएँ हैं। दूसरी अवस्था में ऐसी आधुनिक भाषाएँ हैं, जिनका सम्यक् शोध के अभाव में अध्ययन और विभाजन प्रचुर सामग्री के होते हुए भी नहीं हो सका है। बास्क, बुशमन, जापानी, कोरियाई, अंडमानी आदि भाषाएँ इसी अवस्था में हैं। तीसरी अवस्था की भाषाओं में पर्याप्त सामग्री है और उनका अध्ययन एवं वर्गीकरण हो चुका है। ग्रीक, अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि अनेक विकसित एवं समृद्ध भाषाएँ इसके अन्तर्गत हैं।

आर्य भाषा का इतिहास आर्यों के भारत आने से शुरू होता है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के केन्द्रीय समुदाय में पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती और हिमालयी भाषाएं हैं। मध्य समुदाय में मात्र पूर्वी हिंदी को ही स्थान दिया गया है। इनके बताये पूर्वी समुदाय में बिहारी, उड़िया, बंगला तथा असमी भाषाएँ हैं। दक्षिणी समुदाय में इन्होंने केवल मराठी को ही स्वीकार किया है। इनके अनुसार उत्तरी-पश्चिमी समुदाय में सिंधी, लहंदा

और कश्मीरी भाषाएँ आती हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**भाषा-परिवार**	**1**
	वर्गीकरण के आधार	1
	व्याकरणगत समानता	3
	चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार	5
	भारत की बोलियाँ	8
	द्रविड़ भाषा परिवार	11
	भारतीय आर्य भाषाएं	14
	प्राचीन आर्य भाषा	15
	मध्यकालीन आर्य-भाषा	16
	आधुनिक भारतीय आर्येतर भाषाएं	20
	द्राविड़ परिवार की भाषाएं	20
	हिंदी भाषा का उद्‌भव और विकास	21
	भाषा और बोली	25
2.	**मध्यकालीन आर्य भाषा**	**35**
	पालि भाषा	35
	'पालि' शब्द का निरुक्त	35
	काल के आधार पर प्राकृत भाषाओं के भेद	37

पालि भाषा का उद्‌भव 40
पालि साहित्य की विकासयात्रा 42
वर्गीकरण 43
वंश साहित्य 52
महावंश 53
अन्य वंश ग्रन्थ 54
पालि के शास्त्रीय ग्रन्थ 56
सुत्तपिटक 57
प्राकृत की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त 74
प्राकृत भाषा का स्वरूप एवं क्रमिक विकास 77
द्वितीय स्तर की प्राकृत 79
जैन परंपरा का कथात्मक साहित्य 89
महाराष्ट्री प्राकृत 91
3. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं 103
वैदिक साहित्य 103
वैदिक साहित्य का काल 104
वेदों की शाखाएँ 106
ब्राह्मण-ग्रन्थ 107
वेद का हिंदी भाष्य 117
वैदिक वांगमय का वर्गीकरण 123
वर्गीकरण का इतिहास 126
वेद के अंग 129
वैदिक स्वर प्रक्रिया 130
भारत और विश्व के लिए संस्कृत का महत्त्व 135
संस्कृत का प्राकृत भाषाओं से तथा भारोपीय भाषाओं से सम्बन्ध 136
भाषावैज्ञानिक वर्गीकरण 143
4. आधुनिक भारतीय भाषाओं का परिचय 153
ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ 153
शब्द सम्बन्धी विशेषताएँ 154
व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ 155
ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण 165

1

भाषा-परिवार

आपस में सम्बंधित भाषाओं को भाषा-परिवार कहते हैं। कौन भाषाएँ किस परिवार में आती हैं, इनके लिये वैज्ञानिक आधार हैं। इस समय संसार की भाषाओं की तीन अवस्थाएँ हैं। विभिन्न देशों की प्राचीन भाषाएँ जिनका अध्ययन और वर्गीकरण पर्याप्त सामग्री के अभाव में नहीं हो सका है, पहली अवस्था में हैं। इनका अस्तित्त्व इनमें उपलब्ध प्राचीन शिलालेखो, सिक्कों और हस्तलिखित पुस्तकों में अभी सुरक्षित है। मेसोपोटेमिया की पुरानी भाषा 'सुमेरीय' तथा इटली की प्राचीन भाषा 'एत्रस्कन' इसी तरह की भाषाएँ हैं। दूसरी अवस्था में ऐसी आधुनिक भाषाएँ हैं, जिनका सम्यक् शोध के अभाव में अध्ययन और विभाजन प्रचुर सामग्री के होते हुए भी नहीं हो सका है। बास्क, बुशमन, जापानी, कोरियाई, अंडमानी आदि भाषाएँ इसी अवस्था में हैं। तीसरी अवस्था की भाषाओं में पर्याप्त सामग्री है और उनका अध्ययन एवं वर्गीकरण हो चुका है। ग्रीक, अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि अनेक विकसित एवं समृद्ध भाषाएँ इसके अन्तर्गत हैं।

वर्गीकरण के आधार

भाषा का सम्बन्ध व्यक्ति, समाज और देश से होता है। इसलिए प्रत्येक भाषा की निजी विशेषता होती है। इनके आधार पर वह एक ओर कुछ भाषाओं से समानता स्थापित करती है और दूसरी ओर बहुत-सी भाषाओं से असमानता। मुख्यत: यह वैशिष्टयगत साम्य-वैषम्य दो प्रकार का होता है—आकृतिमूलक

और अर्थतत्त्व सम्बन्धी। प्रथम के अन्तर्गत शब्दों की आकृति अर्थात् शब्दों और वाक्यों की रचनाशैली की समानता देखी जाती है। दूसरे में अर्थतत्त्व की समानता रहती है। इनके अनुसार भाषाओं के वर्गीकरण की दो पद्धतियाँ होती हैं–आकृतिमूलक और पारिवारिक या ऐतिहासिक। इस विवेचन का सम्बन्ध ऐतिहासिक वर्गीकरण से है इसलिए उसके आधारों को थोड़ा विस्तार से जान लेना चाहिए। इसमें आकृतिमूलक समानता के अतिरिक्त निम्नलिखित समानताएँ भी होनी चाहिए।

भौगोलिक समीपता

भौगोलिक दृष्टि से प्रायः समीपस्थ भाषाओं में समानता और दूरस्थ भाषाओं में असमानता पायी जाती है। इस आधार पर संसार की भाषाएँ अफ्रीका, यूरेशिया, प्रशांतमहासागर और अमरीका के खंड़ों में विभाजित की गयी हैं। किन्तु यह आधार बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं है। क्योंकि दो समीपस्थ भाषाएँ एक-दूसरे से भिन्न हो सकती हैं और दो दूरस्थ भाषाएँ परस्पर समान। भारत की हिन्दी और मलयालम दो भिन्न परिवार की भाषाएँ हैं किन्तु भारत और इंग्लैंड जैसे दूरस्थ देशों की संस्कृत और अंग्रेजी एक ही परिवार की भाषाएँ हैं।

शब्दानुरूपता

समान शब्दों का प्रचलन जिन भाषाओं में रहता है उन्हें एक कुल के अन्तर्गत रखा जाता है। यह समानता भाषा-भाषियों की समीपता पर आधारित है और दो तरह से सम्भव होती है। एक ही समाज, जाति अथवा परिवार के व्यक्तियों द्वारा शब्दों के समान रूप से व्यवहृत होते रहने से समानता आ जाती है। इसके अतिरिक्त जब भिन्न देश अथवा जाति के लोग सभ्यता और साधनों के विकसित हो जाने पर राजनीतिक अथवा व्यावसायिक हेतु से एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो शब्दों के आदान-प्रदान द्वारा उनमें समानता स्थापित हो जाती है। पारिवारिक वर्गीकरण के लिए प्रथम प्रकार की अनुरूपता ही काम की होती है। क्योंकि ऐसे शब्द भाषा के मूल शब्द होते हैं। इनमें भी नित्यप्रति के कौटुम्बिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले संज्ञा, सर्वनाम आदि शब्द ही अधिक उपयोगी होते हैं। इस आधार में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि अन्य भाषाओं से आये हुए शब्द भाषा के विकसित होते रहने से मूल शब्दों में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उनको पहचान कर अलग करना कठिन हो जाता है।

इस कठिनाई का समाधान एक सीमा तक अर्थगत समानता है। क्योंकि एक परिवार की भाषाओं के अनेक शब्द अर्थ की दृष्टि से समान होते हैं और ऐसे शब्द उन्हें एक परिवार से सम्बन्धित करते हैं। इसलिए अर्थपरक समानता भी एक महत्त्वपूर्ण आधार है।

ध्वनिसाम्य

प्रत्येक भाषा का अपना ध्वनि-सिद्धान्त और उच्चारण-नियम होता है। यही कारण है कि वह अन्य भाषाओं की ध्वनियों से जल्दी प्रभावित नहीं होती हैं और जहाँ तक हो सकता है उन्हें ध्वनिनियम के अनुसार अपनी निकटस्थ ध्वनियों से बदल लेती है। जैसे फारसी की क, ख, फ आदि ध्वनियाँ हिन्दी में निकटवर्ती क, ख, फ आदि में परिवर्तित होती है। अतः ध्वनिसाम्य का आधार शब्दावली-समता से अधिक विश्वसनीय है। वैसे कभी-कभी एक भाषा के ध्वनिसमूह में दूसरी भाषा की ध्वनियाँ भी मिलकर विकसित हो जाती हैं और तुलनात्मक निष्कर्षों को भ्रामक कर देती हैं। आर्य भाषाओं में वैदिक काल से पहले मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं थीं, किन्तु द्रविड़ भाषा के प्रभाव से आगे चलकर विकसित हो गयीं।

व्याकरणगत समानता

व्याकरणिक आधार सबसे अधिक प्रामाणिक होता है। क्योंकि भाषा का अनुशासन करने के कारण यह जल्दी बदलता नहीं है। व्याकरण की समानता के अन्तर्गत धातु, धातु में प्रत्यय लगाकर शब्द-निर्माण व्याकरणिक प्रक्रिया द्वारा शब्दों से पदों की रचना तथा वाक्यों में पद-विन्यास के नियम आदि की समानता का निर्धारण आवश्यक है। इन चार आधारों पर भाषाओं की अधिकाधिक समानता निश्चित करते उनका वर्गीकरण किया जाता है। इस सम्बन्ध में स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि यह साम्य-वैषम्य सापेक्षिक है। जहाँ एक ओर भारोपीय परिवार की भाषाएँ अन्य परिवार की भाषाओं से भिन्न और आपस में समान हैं वहाँ दूसरी ओर संस्कृत, फारसी, ग्रीक आदि भारोपीय भाषाएँ एक-दूसरे से इन्हीं आधारों पर भिन्न भी हैं।

वर्गीकरण की प्रक्रिया

वर्गीकरण करते समय सबसे पहले भौगोलिक समीपता के आधार पर संपूर्ण भाषाएँ यूरेशिया, प्रशांतमहासागर, अफ्रीका और अमरीका खंडों अथवा चक्रों में

विभक्त होती हैं। फिर आपसी समानता रखने वाली भाषाओं को एक कुल या परिवार में रखकर विभिन्न परिवार बनाये जाते हैं। अवेस्ता, फारसी, संस्कृत, ग्रीक आदि की तुलना से पता चला कि उनकी शब्दावली, ध्वनिसमूह और रचना-पद्धति में काफी समानता है। अत: भारत और यूरोप के इस तरह की भाषाओं का एक भारतीय कुल बना दिया गया है। परिवारों को वर्गों में विभक्त किया गया है। भारोपीय परिवार में शतम् और केन्टुम ऐसे ही वर्ग हैं। वर्गों का विभाजन शाखाओं में हुआ है। शतम् वर्ग की 'ईरानी' और 'भारतीय आर्य' प्रमुख शाखाएँ हैं। शाखाओं को उपशाखा में बाँटा गया है। ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को भीतरी और बाहरी उपशाखा में विभक्त किया है। अंत में उपशाखाएँ भाषा-समुदायों और समुदाय भाषाओं में बँटते हैं। इस तरह भाषा पारिवारिक-वर्गीकरण की इकाई है। इस समय भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन इतना हो चुका है कि यह पूर्ण प्रक्रिया उस पर लागू हो जाती है। इन नामों में थोड़ी हेर-फेर हो सकता है, किन्तु इस प्रक्रिया की अवस्थाओं में प्राय: कोई अन्तर नहीं होता।

वर्गीकरण

उन्नीसवीं शती में ही विद्वानों का ध्यान संसार की भाषाओं के वर्गीकरण की ओर आकृष्ट हुआ और आज तक समय-समय पर अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु अभी तक कोई वैज्ञानिक और प्रामाणिक वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं हो सका है। इस समस्या को लेकर भाषाविदों में बड़ा मतभेद है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर फेडरिख मूलर इन परिवारों की संख्या 100 तक मानते हैं वहाँ दूसरी ओर राइस विश्व की समस्त भाषाओं को केवल एक ही परिवार में रखते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान् इनकी संख्या बारह या तेरह मानते हैं।

मुख्य भाषा-परिवार

दुनिया भर में बोली जाने वाली करीब सात हजार भाषाओं को कम से कम दस परिवारों में विभाजित किया जाता है जिनमें से प्रमुख परिवारों का जिक्र नीचे है।

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार (भारोपीय भाषा परिवार)

यह समूह भाषाओं का सबसे बड़ा परिवार है और सबसे महत्त्वपूर्ण भी है क्योंकि अंग्रेजी, रूसी, प्राचीन फारसी, हिन्दी, पंजाबी, जर्मन - ये तमाम भाषाएँ

इसी समूह से संबंध रखती हैं। इसे 'भारोपीय भाषा-परिवार' भी कहते हैं। विश्व जनसंख्या के लगभग आधे लोग (45%) भारोपीय भाषा बोलते हैं।

संस्कृत, ग्रीक और लातीनी जैसी शास्त्रीय भाषाओं का संबंध भी इसी समूह से है। लेकिन अरबी एक बिल्कुल विभिन्न परिवार से संबंध रखती है। इस परिवार की प्राचीन भाषाएँ बहिर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक (end-inflecting) थीं। इसी समूह को पहले आर्य-परिवार भी कहा जाता था।

चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार

विश्व में जनसंख्या के अनुसार सबसे बड़ी भाषा मन्दारिन (उत्तरी चीनी भाषा) इसी परिवार से संबंध रखती है। चीन और तिब्बत में बोली जाने वाली कई भाषाओं के अलावा बर्मी भाषा भी इसी परिवार की है। इनकी स्वरलहरी एक ही है। एक ही शब्द अगर ऊँचे या नीचे स्वर में बोला जाय तो शब्द का अर्थ बदल जाता है।

इस भाषा परिवार को 'नाग भाषा परिवार' नाम दिया गया है। इसे 'एकाक्षर परिवार' भी कहते हैं। कारण कि इसके मूल शब्द प्रायः एकाक्षर होते हैं। ये भाषाएँ कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तरांचल, नेपाल, सिक्किम, पश्चिम बंगाल, भूटान, अरुणाचल प्रदेश, आसाम, नागालैंड, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा और मिजोरम में बोली जाती हैं।

सामी-हामी भाषा-परिवार या अफ्रीकी-एशियाई भाषा-परिवार

इसकी प्रमुख भाषाओं में आरामी, असेरी, सुमेरी, अक्कादी और कनानी वगैरह शामिल थीं लेकिन आजकल इस समूह की प्रसिद्धतम भाषाएँ अरबी और इब्रानी हैं। इन भाषाओं में मुख्यतः तीन धातु-अक्षर होते हैं और बीच में स्वर घुसाकर इनसे क्रिया और संज्ञाएँ बनायी जाती हैं (अन्तर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ)।

द्रविड़ भाषा-परिवार

भाषाओं का द्रविड़ी परिवार इस लिहाज से बड़ा दिलचस्प है कि हालाँकि ये भाषाएँ भारत के दक्षिणी प्रदेशों में बोली जाती हैं लेकिन उनका उत्तरी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओं से कोई संबंध नहीं है (संस्कृत से ऋणशब्द लेने के अलावा)।

इसलिए उर्दू या हिंदी का अंग्रेजी या जर्मन भाषा से तो कोई रिश्ता निकल सकता है लेकिन मलयालम भाषा से नहीं।

दक्षिणी भारत और श्रीलंका में द्रविड़ी समूह की कोई 26 भाषाएँ बोली जाती हैं लेकिन उनमें ज्यादा मशहूर तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ हैं। ये अन्त-अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ हैं।

यूराल-अतलाई कुल

प्रमुख भाषाओं के आधार पर इसके अन्य नाम-'तूरानी', 'सीदियन', 'फोनी-तातारिक' और 'तुर्क-मंगोल-मंचू' कुल भी हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, किन्तु मुख्यत: साइबेरिया, मंचूरिया और मंगोलिया में हैं। प्रमुख भाषाएँ-तुर्की या तातारी, किरगिज, मंगोली और मंचू है, जिनमे सर्व प्रमुख तुर्की है। साहित्यिक भाषा उस्मानली है। तुर्की पर अरबी और फारसी का बहुत अधिक प्रभाव था किन्तु आजकल इसका शब्दसमूह बहुत कुछ अपना है। ध्वनि और शब्दावली की दृष्टि से इस कुल की यूराल और अल्ताई भाषाएँ एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। इसलिए कुछ विद्वान् इन्हें दो पृथक् कुलों में रखने के पक्ष में भी हैं, किन्तु व्याकरणिक साम्य पर निस्सन्देह वे एक ही कुल की भाषाएँ ठहरती हैं। प्रत्ययों के योग से शब्दनिर्माण का नियम, धातुओं की अपरिवर्तनीयता, धातु और प्रत्ययों की स्वरानुरूपता आदि एक कुल की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ हैं। स्वरानुरूपता से अभिप्राय यह है कि मक प्रत्यय यज्धातु में लगने पर यज्मक् किन्तु साधारणतया विशाल आकार और अधिक शक्ति की वस्तुओं के बोधक शब्द पुंल्लिंग तथा दुर्बल एवं लघु आकार की वस्तुओं के सूचक शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। (लिखना) में यज् के अनुरूप रहेगा, किन्तु सेव् में लगने पर, सेवमेक (तुर्की), (प्यार करना) में सेव् के अनुरूप मेक हो जायगा।

भारत के भाषाई परिवार

भारत में विश्व के सबसे चार प्रमुख भाषा परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। सामान्यत: उत्तर भारत में बोली जाने वाली भारोपीय भाषा परिवार की भाषाओं को आर्य भाषा समूह, दक्षिण की भाषाओं को द्रविड़ भाषा समूह, ऑस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की भाषाओं को भुंडारी भाषा समूह तथा पूर्वोत्तर में रहने वाले तिब्बती-बर्मी, नृजातीय भाषाओं को चीनी-तिब्बती (नाग भाषा समूह) के रूप में जाना जाता है।

हिन्द आर्य भाषा परिवार

यह परिवार भारत का सबसे बड़ा भाषाई परिवार है। इसका विभाजन 'इन्डो-युरोपीय' (हिन्द यूरोपीय) भाषा परिवार से हुआ है, इसकी दूसरी शाखा 'इन्डो-इरानी' भाषा परिवार है जिसकी प्रमुख भाषायें फारसी, ईरानी, पश्तो, बलूची इत्यादि हैं। भारत की दो-तिहाई से अधिक आबादी हिन्द आर्य भाषा परिवार की कोई न कोई भाषा विभिन्न स्तरों पर प्रयोग करती है। जिसमें संस्कृत समेत मुख्यतः उत्तर भारत में बोली जाने वाली अन्य भाषायें जैसे–हिन्दी, उर्दू, मराठी, नेपाली, बांग्ला, गुजराती, कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, उड़िया, असमिया, मैथिली, भोजपुरी, मारवाड़ी, गढ़वाली, कोंकणी इत्यादि भाषायें शामिल हैं।

द्रविड़ भाषा परिवार

यह भाषा परिवार भारत का दूसरा सबसे बड़ा भाषायी परिवार है। इस परिवार की सदस्य भाषायें ज्यादातर दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। इस परिवार का सबसे बड़ा सदस्य तमिल है जो तमिलनाडु में बोली जाती है। इसी तरह कर्नाटक में कन्ड़, केरल में मलयालम और आंध्रप्रदेश में तेलुगू इस परिवार की बड़ी भाषायें हैं। इसके अलावा तुलू और अन्य कई भाषायें भी इस परिवार की मुख्य सदस्य हैं। अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारतीय कश्मीर के सीमावर्ती क्षेत्रों में इसी परिवार की ब्राहुई भाषा भी बोली जाती है जिसपर बलूची और पश्तो जैसी भाषाओं का असर देखने को मिलता है।

आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार

यह प्राचीन भाषा परिवार मुख्य रूप से भारत में झारखंड, छत्तीसगढ, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के ज्यादातर हिस्सों में बोली जाती है। संख्या की दृष्टि से इस परिवार की सबसे बड़ी भाषा संथाली या संताली है। यह पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, झारखंड और असम में मुख्यरूप से बोली जाती है। इस परिवार की अन्य प्रमुख भाषाओं में हो, मुंडारी, संथाली या संताली, खड़िया, सावरा इत्यादि भाषायें हैं।

चीनी-तिब्बती भाषा परिवार

इस परिवार की ज्यादातर भाषायें भारत के सात उत्तर-पूर्वी राज्यों जिन्हें 'सात-बहनें' भी कहते हैं, में बोली जाती है। इन राज्यों में अरुणाचल प्रदेश,

मेघालय, मणिपुर, नागालैंड, मिजोरम, त्रिपुरा और असम का कुछ हिस्सा शामिल है। इस परिवार पर चीनी और आर्य परिवार की भाषाओं का मिश्रित प्रभाव पाया जाता है और सबसे छोटा भाषाई परिवार होने के बावजूद इस परिवार के सदस्य भाषाओं की संख्या सबसे अधिक है। इस परिवार की मुख्य भाषाओं में नागा, मिजो, म्हार, मणिपुरी, तांगखुल, खासी, दफला, चम्बा, बोडो, तिब्बती, लद्दाखी, लेव्या तथा आओ इत्यादि भाषायें शामिल हैं।

अंडमानी भाषा परिवार

जनसंख्या की दृष्टि से यह भारत का सबसे छोटा भाषाई परिवार है। इसकी खोज पिछले दिनों मशहूर भाषा विज्ञानी प्रो. अन्विता अब्बी ने की। इसके अंतर्गत अंडमान-निकाबोर द्वीप समूह की भाषाएं आती हैं, जिनमें प्रमुख हैं- अंडमानी, ग्रेड अंडमानी, ओंगे, जारवा आदि।

भारत की बोलियाँ

भारत में 'भारतीय जनगणना 1961' (संकेत चिह्न = जन0) के अनुसार 1652 मातृभाषाएँ (बोलियाँ) चार भाषा परिवारों में वर्गीकृत की गई हैं। नीचे बोलियों के विवरण में आधार डॉ. ग्रियर्सन का 'भारत भाषा सर्वेक्षण' (संकेत चिह्न = ग्रि.) है, किंतु नीवनतम शोध अध्ययन सर्वोपरि माने गए हैं। तुलना के लिये जन. का उल्लेख किया गया है। बोलियों के मिलनस्थलों पर मतभेद असंभव नहीं है। कोष्ठकों में बोलियों के स्थान वर्णित है।

भारोपीय भाषा परिवार

संसार के भाषापरिवारों में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भारोपीय भाषापरिवार की दरद शाखा के दरद वर्ग की शिना भाषा की बोली गिलगिती (गिलगित) और कश्मीरी भाषा की किश्टवारी (किश्टवार क्षेत्र), पोंगुली (जम्मू), भुजवाली (दोड़ा जिला), सिराजी (जम्मू कश्मीर) विशेषत: उल्लेख्य हैं।

यद्यपि मूल लहँदा तथा सिंधी क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया है, फिर भी विस्थापितों के रूप में लहँदा की 14 बोलियों में मुल्तानी तथा पुच्छी (जम्मू) एवं सिंधी की सात बोलियों में कच्छी (कच्छ) प्रमुखत: पाई गई।

जन0 में मराठी की 65 बोलियाँ हैं। दक्षिण महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल, में (उत्तर) बोली जाने वाली कोंकणी वस्तुत: स्वतंत्र भाषा है, मराठी की बोली,

जैसा गियर्सन ने कहा था, नहीं है। कोंकणी की 16 बोलियों में चेट्टि भाषा कोंकणी (केरल) गोअनीज (गोआ) एवं कुदबी प्रमुख है। मराठी के अंतर्गत हलबी (बस्तर), कमारी (रायपुर), कटिया (छिंदवाड़ा, बेतुल) कटकारी (कोलाबा) कोष्ठी मराठी (कोष्ठी जाति द्वारा आंध्र, म. प्र. प्रमुखतः नागपुर एवं भंडारा में प्रयुक्त), क्षत्रिय मराठी (केवल मैसूर राज्य), छिंदवाड़ा शिओनी ठाकरी (कोलाबा) बोलियाँ जन0 में उल्लिखित हैं। शेष करहंडी, मिरगानी, भंडारी प्रभृति उल्लेख्य हैं।

उड़ीसा की 24 बोलियों में भमी (प्रमुखतः बस्तर), भुइया (सुंदरगढ़, धेनकनाल, केओंझर), रेल्ली (आंध्र) पइड़ी (आंध्र) प्रमुख हैं। कटक की कटकी, आंध्र सीमा पर गंजामी, संभलपुर में संभलपुरी भी उल्लेख हैं।

बंगाली के अंतर्गत जन0 में उल्लिखित 15 बोलियों में चकमा (मीजो पहाड़ियाँ, त्रिपुरा, असम,) किसनगँजिया (बिहार), राजवंशी (जलपाईगुड़ी) प्रमुख है। ग्रियर्सन ने सरकी, खड़ियाठार, कोच आदि भी गिनाई हैं। जन0 में असम की कोई बोली नहीं वर्णित है, किंतु ग्रियर्सन ने कछार के हिंदुओं की बिशुनपुरिया का उल्लेख किया था।

हिंदी क्षेत्र में बिहारी वर्ग में 35 मातृ बोलिया हैं जिनमें

(1) भोजपुरी (पूर्वी फैजाबाद, दक्षिणी पूर्वी मिर्जापुर, वाराणसी, पूर्वी जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, बस्ती का पूर्वी भाग, गोरखपुर, देवरिया, सारन, शाहाबाद)

(2) मैथिली (तिरहुतिया) मिथिला प्रदेश (चंपारन, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, भागलपुर, दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा, माल्टा, तथा दिनाजपुर)

(3) मगही (गया, पटना, तथा संथाल परगना में अंशतः) प्रमुख बोलियाँ हैं।

(4) नागपुरी(झारखंड के लातेहार, छात्र, पालामु, लोहारदागा, गुमला, राचीं, सिमडेगा जिले, छत्तीसगढ़ के जाशपुर, उड़ीसा के सुनदरगढ़ जिला)।

मैथिली की उपबोली सिराजपुरी पूर्णिया में बोली जाती है। पूर्वी हिंदी की अवधी एवं छत्तीसगढ़ी प्रमुख बोलियाँ हैं। अवधी लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर, बहराइच, बाराबंकी, रायबरेली, गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, जौनपुर, मिर्जापुर जिलों की बोली है। इसमें बाँदा भी गिना जा सकता है। बधेली रीवा सतना शहडोल के अतिरिक्त ग्रि. के अनुसार दमोह, जबलपुर, मांडला, बालाघाट तक फैली है अवधी की मरारी पोआली तथा परदेशी महाराष्ट्र

भी बोलियाँ हैं। छत्तीसगढ़ी छत्तीसगढ़, रायपुर, रायगढ़ दुर्ग बिलासपुर, सरगुजा, बस्तर में (डॉ. उदयनारायण के अनुसार) काकेर, कबर्धा चाँदा उत्तर पूर्व में भी बोली जाती है। सरगुजिया सरगुजा में ग्रियर्सन के अनुसार कोरिया उदयपुर में भी, ग्वारो उपबोली असम में, तथा लरिया उड़ीसा में बोली जाती है।

पश्चिमी हिंदी

(1) कौरवी खड़ी बोली (रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून-मैदानी भाग, अंबाला, कलसिया, आदि),

(2) बांगरू (द0 पंजाब के करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, का कुछ भाग, नाभा, जींद),

(3) ब्रजभाषा (ग्रियर्सन के अनुसार मथुरा, अलीगढ़, आगरा, एटा, बुलंदशहर, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली, गुड़गाँव जिला पूर्वी पट्टी, भरतपुर, धौलपुर, करौली, जयपुर पूर्व,) डॉ. धीरेंन्द वर्मा के अनुसार

(4) कन्नौजी बोली ब्रजभाषा के अंतर्गत है, अतः पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर भी ब्रजभाषा में गिने जा सकते हैं। नवीनतम शोध के अनुसार

(5) बुंदेली झाँसी, हमीरपुर, जालौन, छतरपुर, छीकमगढ़ दतिया, भिंड, ग्वालियर, मुरैना, शिवपुरी, गुना, सागर, पन्ना, दमोह, सिवनी, छिंदवाड़ा, नरसिंहपुर, रायसेन, विदिशा, होशंगाबाद, तथा बेतूल जिलों में बोली जाती है।

पूरे राजस्थान में राजस्थानी बोली 71 मातृ बोलियों सहित फैली है। जन0 के अनुसार इनमें बागरी राजस्थानी (गंगानगर, सीकर,) बंजारी (महाराष्ट्र मैसूर), धुघारी (जयपुर, सीकर, सवाई माधोपुर, टोंक), लमनी (लंबडी) (आंध्र), गोजरी (जम्मू कश्मीर), हाड़ौती (बूँदी, कोटा, झालावार) खैसरी (बूंदी भीलवाड़ा), मालवा (मालवा में - मंदसौर, उज्जैन, इंदौर, देवास, शाजपुर, रतलाम, चित्तोड़गढ़), माराड़ी (मारवाड़ में गंगानगर, बीकानेर, चूरू, झुंझुनू, सीकर, अजमेर, जैसलमेर, जोधपुर, नागौर, पाली, बाड़मेर, जालोर, सिरोही), मेवाड़ी (मेवाड़ भीलवाड़ा, उदयपुर, चितौड़गढ़) शेखावटी (झुंझुनू), प्रमुख बोलियाँ हैं। निमाड़ी धार तथा निमाड़ की बोली है। ग्रि. में भीली तथा खानदेशी मिश्रित बोलियाँ भाषा के रूप में पृथक वर्णित हैं। जन0 के अनुसार भीलों की 36 उपबोलियों में बारेल (छोटा उदयपुर स्टेट) (भिलाली भीलो, भीलोड़ो)

(बरार, खानदेश, म. प्र. एवं महाराष्ट्र का कुछ भाग), गमती गवित (गुजरात), कोकना (कुन्ना) (बड़ौदा, सूरत, नासिक), बागड़ी (मेवाड़ के आसपास), पावरी (ग्रि. खानदेश) प्रमुख हैं खान देश की अहीरनी खानदेश में प्रयुक्त है।

86 बोलियों के समूह वाले पहाड़ी वर्ग की पश्चिमी पहाड़ी के अंतर्गत भदवाही (जम्मू कश्मीर) सिरमौरी, भरमौर, मंडेआली, चमेआलो, चुरही (पाँचों हिमाचल प्रदेश) जौनसारी (जानसार बाबर), कुलुई (कुल्लु) उपबोलियाँ हैं। पूर्वी पहाड़ी में नैपाली तथा मध्य पहाड़ी में कुमाउनी (अल्मोड़ा, नैनीताल), गढ़वाली (गढ़वाल, मसूरी) प्रमुख है। वस्तुतः इनमें प्राकृतिक दूरी है। जन0 में गुजराती का 27 बोलियों में धिसादी (आंध्र, महाराष्ट्र में लाहारों द्वारा प्रयुक्त) कोल्ची (सूरतक में कोल्वा जाति द्वारा प्रयुक्त), पारसी (महाराष्ट्र सौराष्ट्र (मद्रास), सौराष्ट्री (गुजरात) प्रमुख वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त गामड़िया, चरोतरी, काठियावाड़ी भी उल्लेख है।

पंजाबी की 29 बोलियों में जन0 के अनुसार बिलासपुरी (कल्हरी) (विलासपुर, मंगल, होशियारपुर), डोगरी (जम्मू एवं पंजाब के कुछ भाग), कांगरी (कांगड़ा) राठी जालंधरी, फिरोजपुरी, पट्टियानी (बीकानेर, फिरोजपुर) माँझी (अमृतसर के आसपास) प्रमुख बोलियाँ हैं।

द्रविड़ भाषा परिवार

भारत में संख्या की दृष्टि से दूसरे भाषापरिवार द्रविड़ में जन0 में 161 मातृभाषाएँ गिनाई गई हैं जिनमें 104 को संविधानगत तमिल, तेलुगु, कन्नड़ मलयालम चार भाषाओं के संदर्भ में विवेचित किया जा सकता है। तमिल की 22 बोलियों में येरुकुल आंध्र में, कैकादी महाराष्ट्र में (ग्रि. के अनुसार दक्षिण में) कोरवा पहले मद्रास में, पट्टापु भाषा आंध्र में प्रमुख बोलियों के रूप में बोली जाती है। ग्रि. के अनुसार सालेवारी (चाँदा), बेराडी (बेलग्राम) भी प्रधान बोलियाँ हैं। कन्नड़ की 32 मातृ बोलियों में प्रमुखतम बडगा (नीलगिरि, मैसूर) है। होलिया प्रमुखत- महाराष्ट्र में, गतार कन्नड़ म. प्र. में, मोंटाडेंत्यी मद्रास में पाई गई हैं। कोरचा बोली कोरवा की पर्याय नहीं है, जैसा ग्रि. में वर्णित है, अपित यह मैसूर में बोली जाने वाली, कन्नड़ की प्रमुख बोली है। मलयालम की 14 बोलियों में येरव जाति की येरव बोली मैसूर में, पनिया मद्रास तथा केरल में बोली जाती है। नागरी मलयालम त्रिचूर जिले के संस्कृतज्ञ ब्राह्मणों की मलयालम है। शेष बोलियाँ गौण हैं। तुलू कोर्गी (कोडगू) (कुर्ग), टोडा, कोटा, (मद्रास)

चार भाषाओं की भी कई बोलियाँ हैं। कोर्गा तुलू की प्रधान बोली है। ये मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र में बिखरी हैं।

इसके अतिरिक्त उत्तर द्रविड़ समूह की कुरुख (ओराँव) भाषा में वाँगरी नागेसियाँ (अंतिम दोनों बंगाल में) तथा माल्टी भाषा की सौरिया (म. प्र.) प्रमुख है। नई शोधों के आधार पर कहा जा सकता है कि गोडी, कुई (उड़ीसा में कोरापत), खोंड़ (कोंध) (उड़ीसा), कोया (आंध्र), पार्जी (म. प्र.), कोलामी (आंध्र.) कोंडा भाषाएँ सिद्ध हुई है। ग्रि. में ये बोलियों के रूप में वर्णित हैं। गोंडी की डोटली, भरिया (म. प्र. बिहार, उड़ीसा की सीमाएँ) कुई की पेंगु (उड़ीसा), कोलामी की माने (आध्र में अदीलाबाद) एवं नइकी (ददरा हवेली) बोलियाँ उल्लेख हैं।

तिब्बत-चीनी भाषा परिवार

तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाएँ लद्दाख से लेकर असम से पूर्व तक उत्तुंग हिमानी शिखरों, बीहड़ जंगलों, घाटियों में दूर तक फैली हुई है। जन0 में 226 मातृभाषाएँ (बोलियाँ) गिनाई गई हैं। (1) तिब्बत भोटिया वर्ग में 33 मातृ बोलियाँ हैं जिनमें भोटिया, बाल्ती, भूटानी, लाहुली, स्पीती, कागेती प्रमुख हैं। कई एक का नामकरण स्थानविशेष के आधार पर हुआ है। (2) हिमालय वर्ग की 24 मातृ बोलियों में मलानी प्रमुख बोलीयुत कंसी, कनौरी (5 बोलियाँ) राई टामंग, लोचा प्रमुख भाषा (बोलियाँ) हिमाचल प्रदेश में बोली जाती है। असम शाखा के नेफा वर्ग में 24 मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं जिनमें आका, हासो, दफ्का (दो बोलियाँ) अबोर (मियोंग प्रमुख बोली सहित कुल 14), मीरी, (प्रमुख बोली मीशियांग) तथा मिश्मी प्रमुख मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं। असम-बर्मी शाखा के (1) बोदो वर्ग में 40 मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं, जिनमें बोड़ो सहित चार बोलियाँ कचारी, दिमासा, गारो (अचिक दालू, प्रमुख), त्रिपुरी (जयंतिया प्रमुख बोली) मिकीर, राब्भा (रँगदनियाँ प्रमुख बोली), उल्लेखनीय हैं और जो असम में बिखरी हुई हैं। (2) नाना वर्ग की कुल 47 मातृभाषाओं (बोलियाँ) में कीन्याक (तीन बोलियाँ), आओ (मोक्सेन प्रमुख), अंगामी (चकू प्रमुख), सेमा, टाँगखुल आदि नागालैंड तथा नेफा में बोली जाती हैं। (3) कूकी-चिनवर्ग की 61 मातृभाषाओं (बोलियों) में प्रमुख भाषा मनीपुरी (मेथेई) की विशुनपरिया बोली त्रिपुरा तथा कछार में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त वैसें, खोंगजई, हालम कूकी अनिश्चित भाषाएँ (बोलियाँ) असम तथा नागा पहाड़ियों में है।

(4) बर्मा वर्ग की अर्कनीज भाषा की मोध प्रमुख बोली त्रिपुरा में बोली जाती है।

आस्ट्रिक भाषा परिवार

आस्ट्रिक भाषा परिवार की मॉन ख्मेर शाखा में सात तथा मुंडा शाखा में 58, कुल मिलाकर 65 मातृभाषाएँ जन0 में वर्णित हैं। खासी भाषा की जयंतिया तथा प्नार बोलियाँ खासी तथा जयंतिया पहाड़ियों में बोली जाती है। खेरवारी भाषा के अंतर्गत संथाली (बंगाल, बिहार उड़ीसा की सीमाएँ), मुंडारी, हो, कुरुख, कोर्कू (कूर्कू) (सतपुड़ा पहाड़, महादेव पहाड़ियाँ), भूमिज (सिंहभूमि, मानभूमि), गदबा (मद्रास की उत्तरी पूर्वी पहाड़ियाँ) बोलियाँ गिनाई गई हैं। वस्तुतः इन्हें भाषाएँ कहना, जैसा जन0 में है, अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि बोधगम्यता के सिद्धांत के आधार पर उनमें अत्यधिक दूरी आ गई है। मुंडा शाखा की शेष बोलियाँ हैं–मकारी (महाराष्ट्र म. प्र.), कोडा (कोरा) संबंधित मिरधा (पं. बंगाल), बइरी, लोढ़ाजो खरिया से संबंधित हैं, (प. बंगाल), निकोबारी (अंडमान निकोबार), तथा कोल भाषाएँ।

विश्व की भाषाएँ एवं भाषा परिवार

विश्व के भाषा परिवारों के संबंध में कई मत हैं। जर्मन विद्वान विल्हेम फोन हम्बोल्ड्ट ने 13 परिवारों की चर्चा की है, जबकि पार्टिरिज ने 10 की और आधुनिक विद्वान् राड्स इनकी संख्या मात्र 12 ही बताते हैं। इसी प्रकार ग्रेके अनुसार यह संख्या 28 है तथा भारतीय विद्वान 10 से 18 तक की संख्याओं का उल्लेख करते हैं। कुछ ने तो यह संख्या 100 तक पहुँचा दी है, परन्तु विश्व की भाषाओं के ठीक से अध्ययन के अभाव में ये सभी मत अनुमान पर ही आधारित हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण के आधार पर भाषा खण्ड

विश्व की भाषाओं को चार भाषा-खण्डों में बाँटा जा सकता है–

अफ्रीका-खण्ड-इसमें चार प्रमुख भाषा-परिवार हैं-(क) बुशमैन, (ख) बाँटू, (ग) सूडान और (घ) हेमैटिक-सेमैटिक। हेमैटिक-सेमैटिक को अलग-अलग परिवार भी माना जाता है।

यूरेशिया-खण्ड-इनमें नौ मुख्य भाषा परिवार हैं-(क) हेमैटिक-सेमैटिक, (ख) काकेशियन, (ग) यूराल-अल्टाइक, (घ) चीनी, (ड़) द्रविड़, (च)ऑस्ट्रो-एशियाटिक, (छ) जापानी-कोरियाई, (ज) मलय-पॉलिनेशियन और(झ) भारोपीय।

प्रशान्त महासागरीय-खण्ड-इसके अन्तर्गत मुख्यत: मलय-पॉलिनेशियन परिवार है, जिसे कुछ विद्वान अनेक परिवारों का समूह मानते हैं।

अमरीका खण्ड-अमेरिकन परिवार की भाषाओं के लगभग सौ परिवार स्वीकार किए जाते हैं।

वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि कुछ परिवार दो-दो भाषा-खण्डों में आये हैं। हेमैटिक-सेमैटिक परिवार दोनों-अफ्रीका और यूरेशिया खण्डों में आया है। इसी प्रकार मलय-पॉलिनेशियन परिवार यूरेशिया और प्रशान्त महासागरीय खण्डों में आया है। इसके अलावा कुछ विद्वान् विभिन्न खण्डों के कुछ परिवारों को एक ही परिवार में समाविष्ट करने के पक्षधर हैं। इस भेद के बावजूद आज निश्चित भाषाओं के 13 भाषा-परिवार स्वीकृत हैं–(1) भारोपीय (2) द्रविड़ (3) चीनी, (4) सेमैटिक-हेमैटिक, (5) यूराल-अल्टाइक,(6) काकेशियन, (7) जापानी-कोरियाई, (8) मलय-पॉलिनेशियन, (9)ऑस्ट्रो-एशियाटिक, (10) बुशमैन, (11) बाँटू, (12) सूडान और (13) अमेरिकी।

भारतीय आर्य भाषाएं

भारत से अभिप्राय सन् 1947 से पहले का अविभाजित भारत से है, जिसमें पाकिस्तान और बांग्लादेश समाविष्ट थे। कुछ विद्वान तो भारत का अर्थ श्रीलंका और वर्मा सहित भारत लेते हैं। वस्तुत: अंग्रेजों के आने से पहले ये सब प्रदेश भारत के ही अंग थे।

आर्य भाषा का इतिहास आर्यों के भारत आने से शुरू होता है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के केन्द्रीय समुदाय में पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती और हिमालयी भाषाएं हैं। मध्य समुदाय में मात्र पूर्वी हिंदी को ही स्थान दिया गया है। इनके बताये पूर्वी समुदाय में बिहारी, उड़िया, बंगला तथा असमी भाषाएँ हैं। दक्षिणी समुदाय में इन्होंने केवल मराठी को ही स्वीकार किया है। इनके अनुसार उत्तरी-पश्चिमी समुदाय में सिंधी, लहंदा और कश्मीरी भाषाएँ आती हैं।

भारतीय आर्य-भाषा के प्रारम्भ का अनुमानित समय 1500 ई. पू. के आस-पास है। 1500 ई.पू. से लगभग 2000 ई. तक के सुदीर्घ-काल को भाषिक विशेषताओं के आधार पर तीन कालों में विभाजित किया गया है।

प्राचीन आर्य भाषा-1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक (1000 वर्ष)
मध्यकालीन आर्य भाषा- 500 ई.पू. से 1000 ई. तक (1500 वर्ष)
आधुनिक भारतीय आर्य भाषा-1000 ई. से अब तक।

प्राचीन आर्य भाषा

आर्यों के भारत आगमन के समय इनकी भाषा ईरानी से अधिक अलग नहीं थी, लेकिन आर्येतर लोगों के सम्पर्क में आने पर अनेक प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभावों के फलस्वरूप उसमें परितर्वत आने लगा और वह अपनी भगिनी भाषा ईरानी से भिन्न रूप ग्रहण करने लगी।

आर्य भाषा का पुराना रूप वैदिक संहिताएँ हैं, जिनमें नियमितता के अभाव के कारण रूपों की विविधता है तथा परवर्ती साहित्य में लुप्त अनेक प्राचीन शब्दों का प्रयोग है। वैदिक संहिताओं का काल 1200 से 900 ई.पू. के लगभग माना जाता है। इनमें भाषा के दो रूप-जिन्हें सुविधा के लिए प्राचीन और नवीन नाम दिया जाता है, मिलते हैं। प्राचीन रूप अवेस्ता के निकट है। वेदों की भाषा काव्यात्मक होने के कारण बोल-चाल की भाषा से अलग है। परवर्ती साहित्य ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों आदि (रचना काल 900ई.पू.) की भाषा अपेक्षाकृत व्यवस्थित है। उसमे न तो रूपाधिक्य है और न ही जटिलता है। इन ग्रंथों की गद्य-भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों की रचना के समय तक आर्यों का निवास सप्त-सिंधु पंजाब प्रदेश था और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की रचना के समय वे मध्य प्रदेश में आ गए थे।

सूत्र ग्रंथों (रचना काल लगभग 700 ई.पू.) में भाषा के विकसित रूप के दर्शन होते हैं। इसी भाषा के उत्तरी रूप अपेक्षाकृत परिनिष्ठित एवं पंडितों में मान्य रूप को पाणिनी ने पाँचवीं शताब्दी में नियमबद्ध किया, जो सदा के लिए लौकिक संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श रूप बन गया।

पाणिनि द्वारा संस्कृत भाषा को व्याकरण के नियमों में बाँध दिए जाने पर बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में विकास करती चली गई। इधर संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा न रहने पर भी

कुछ परिवर्तित होती रही, जिसकी झलक रामायण, महाभारत पुराण-साहित्य और कालिदास के काव्यों में मिलती है।

वैदिक भाषा की तीन बोलियाँ थीं- पश्चिमोत्तर, मध्य देशी तथा पूर्वी। लौकिक संस्कृत की एक अन्य दक्षिणी बोली भी विकसित हो गई थी। इस प्रकार उसकी चार बोलियाँ थीं।

मध्यकालीन आर्य-भाषा

प्राचीन आर्य-भाषा के द्वितीय रूप लौकिक संस्कृत को मुनित्रय पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन ने नियमों में बाँधकर एक स्थाई रूप दे दिया, जिससे उसमें परिवर्तन वैयाकरणों की दृष्टि में विकार तथा भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में विकास असह्य हो गया, जबकि जन-भाषा बंधनो (नियमों) की उपेक्षा करती हुई निरन्तर विकसित होती रही। जन-भाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्य-भाषा' नाम दिया गया। इसकी स्थूल काल-सीमा 500 ई.पू. से 1000 ई. तक है।

मध्यकालीन आर्य-भाषा को 'प्राकृत' कहा गया है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से किये जाने से दो प्रकार के मत प्रचलित हो गये। एक मत यह है कि प्राकृत मूल अथवा जन-भाषा है और उसका परिष्कृत साहित्यिक रूप वैदिक लौकिक संस्कृत भाषा है। दूसरा मत इसके सर्वथा विपरीत है। इसके अनुसार संस्कृत प्रकृति है और उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। वैदिक भाषा का उच्चरित रूप अवश्य प्राकृत कहलाता होगा, परन्तु मध्यकालीन प्राकृत को संस्कृत से विकसित मानना ही युक्ति संगत होगा।

1500 वर्षों की प्राकृत भाषा के विकास की स्थितियों के संदर्भ में उसे तीन कालों (500-500 वर्षों के अन्तराल से) में बाँटा जाता है और सुविधा के लिए उसे प्रथम प्राकृत काल (500 ई. पू. से ईस्वीं प्रारम्भ तक), द्वितीय प्राकृत काल (ईस्वीं प्रारम्भ से 500 ई. तक) तथा तृतीय प्राकृत काल (500-1000 ई. तक) नाम दिया जाता है।

पालि-बौद्धों-विशेषत: दक्षिणी बौद्धों की यह भाषा 'मागध-भाषा' अथवा 'देश-भाषा' नामों से भी प्रसिद्ध है। पालि के विकास की दृष्टि से कम से कम उसके चार रूप मिलते हैं। इसका प्राचीनतम रूप त्रिपिटक में सुरक्षित है। इसका दूसरा विकसित रूप त्रिपिटक के गद्य-भाग में मिलता है। तीसरा रूप बुद्धघोष

की अट्ठकथा आदि का गद्य है और चतुर्थ रूप उत्तरकालीन काव्य-ग्रंथों-दीपवंश, महावंश आदि की भाषा है।

अभिलेखी प्राकृत के अधिकांश लेख शिलाओं पर होने के कारण इसका एक नाम शिलालेखी प्राकृत भी है। इसकी सुलभ सामग्री को दो भागों में विभक्त किया गया है–

1. अशोकी अभिलेख तथा
2. अशोकेतर अभिलेख।

द्वितीय प्राकृत के अन्तर्गत भारत एवं भारत के बाहर प्रयुक्त विभिन्न धार्मिक साहित्यिक एवं अन्य प्राकृतें हैं। इन प्राकृतों के लगभग दो दर्जन नाम सुझाए गए हैं, जिनमें भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच प्रमुख भेद स्वीकरणीय हैं-शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी। 5 तृतीय प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश भाषा आती है, जिसकी अन्तिम सीमा अवहट्ठ भाषा है। जो अपभ्रंश और आधुनिक आर्य-भाषाओं के मध्य की कड़ी एवं सन्धिकालीन भाषा है। उपलब्ध रचनाओं के आधार पर अपभ्रंश का क्षेत्र पूरा आर्य-भाषा भाषी भारत ठहरता है। वस्तुतः अपभ्रंश प्राकृतों और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के बीच की कड़ी रही है।

आधुनिक आर्य भाषा

अपभ्रंश भाषा अवहट्ट आदि अनेक स्थानीय रूपों से बढ़ती हुई आधुनिकआर्य-भाषा का रूप ग्रहण कर गई। आधुनिक आर्य-भाषा स्थानीय विशेषताओं को ग्रहण करती हुई अनेक रूपों (उपभाषाओं और बोलियों) में विकसित हुई। ये प्रमुख रूप हैं-सिन्धी, गुजराती, लहंदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगला, असमिया, हिंदी (पश्चिमी और पूर्वी), राजस्थानी ,पहाड़ी तथा बिहारी आदि।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं

भारतीय आर्य भाषा में विकास का जो क्रम पालि से प्रारंभ हुआ था वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में पूर्णत्व को पहुँचा। विद्वानों का अनुमान है कि छठी से ग्यारहवीं सदी के मध्य प्रचलित प्रत्येक प्राकृत का एक-एक अपभ्रंश रूप रहा होगा, जिनसे आधुनिक आर्य भाषाएं तथा उपभाषाओं के प्रादुर्भूत होने की संभावना व्यक्त की जाती है। ये हैं– (1) शौरसेनी से-गुजराती(भाषा),

राजस्थानी (उपभाषा), पश्चिमी हिंदी (उपभाषा), पहाड़ी (उपभाषा) (2)अर्धमागधी से-पूर्वी हिंदी (उपभाषा), (3) मागधी से-बिहारी (उपभाषा), बंगाली(भाषा), असमी (भाषा), (4) महाराष्ट्री से-मराठी (भाषा), (5) पैशाची से दृलहंदा (भाषा, केकय अपभ्रंश से), पंजाबी (भाषा, टक्क अपभ्रंश से)य ब्राचडसे-सिंधी (भाषा)।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय

(1) सिंधी-सं. सिंधु से सिंध शब्द बना है। सिंध प्रदेश की भाषा सिंधी कहलाती है। शाह लतीफ का 'रिशालो' सिंधी का प्रसिद्ध ग्रंथ है। सिंधी की पांच बोलियां हैं- बिचोली, सिराइकी, लारी, थरेली और कच्छी। बिचोली मध्य सिंध में बोली जाती है। यही वहां की परिनिष्ठित भाषा है। सिंधी की अपनी कोई स्वतंत्र लिपि न होने के कारण कभी यह विकृत फारसी लिपि में, कभी गुरुमुखी में और कभी नागरी में लिखी जाती रही है। अरबी के आधार पर निर्मित 1853 ई. से सिंधी की अपनी लिपि प्रचलित है। सिंधी के सभी शब्द स्वरांत हैं। ग, ज, ड, ब, ध्वनियों का उच्चावरण कंठपिटक को बंद करके द्वित्वरूप में होता है। पुलिंग संज्ञाएँ उकारांत, ओकारांत, तथा स्त्रीलिंग संज्ञाएँ अकारांत होती हैं। दो लिंग और दो वचन हैं। सिंध में अधिकांशत: मुसलमान रहते हैं। इसलिए उसके शब्द भंडार में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। संपूर्ण शब्द भंडार का लगभग 75 प्रतिशत भाग संस्कृत तद्भवों का है। सिंधी बोलने वाले प्राय: पाकिस्तान के सिंध प्रांत में हैं, किन्तु भारत के बंबई तथा दिल्ली में भी सिंधी भाषी हैं।

(2) लहँदा-इसका शाब्दिक अर्थ है -पश्चिम या सूर्यास्त की दिशा। पंजाब के दो भाग हैं- भारतीय पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब। लाहौर और स्याल कोट जिलों को छोड़ कर शेश पश्चिमी पंजाब में व्यवहृत पंजाबी को लहँदे दि बोली (लहँदा) कहा जाता है। वास्वत में यह पंजाबी की ही उपभाषा है। इसमें लिखित साहित्य का अभाव है। सिंधी तथा कश्मीरी से लहँदा बहुत प्रभावित है। यद्यपि इसकी अपनी स्वतंत्र लिपि लंडा है, तथापि इसके बोलने वालों में अधिकांशत: मुसलमान ही हैं, जो फारसी लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

(3) पंजाबी-पंजाबी शब्द पंज 'पांच' और आब 'पानी' या 'नदी' के योग से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है 'पांच नदियों का देश'। सतलज, रावी, व्यास, चेनाव और झेलम नदियों से संबंधित क्षेत्र को पंजाब वहां की भाषा को पंजाबी कहा जाता है। लहंदा और पंजाबी भिन्न-भिन्न भाषाएं हैं, फिर भी कभी-कभी

दोनों को पंजाबी कह दिया जाता है। पूर्वी पंजाबी या भारतीय पंजाब की भाषा ही वास्तव में पंजाबी है। इक्क, सत्त, अट्ठ, गड्डी जैसे प्राकृत शब्दों का प्रयोग पंजाबी में आज भी होता है। इसी के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पंजाबी सबसे पुरानी है। परिनिष्ठित पंजाबी का व्यवहार अमृतसर के समीप माझ में होता है। इसलिए इसे माझी भी कहा जाता है। डोगरी बोली जम्मू तथा पंबाज के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा है, जिसे सिक्ख गुरु अंगद ने सोलहवीं सदी में देवनागरी के आधार पर परिष्कृत किया था। तब से इसे गुरुमुखी कहा जाने लगा।

(4) गुजराती-भाषा के अर्थ में गुजराती शब्द सोहलवीं सदी के बाद से मिलता है। टेसिटरी का कहना है कि 1600 ई. तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा प्राचीन राजस्थानी थी। आधुनिक गुजराती का स्वरूप सत्रहवीं सदी के मध्य से प्रकट हुआ। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, अब उसकी अपनी लिपि है जो कैथी लिपि से मिलती-जुलती विकृत देवनागरी ही है। यही अब गुजराती लिपि कहलाती है। शिरोरेखा विहीनता इसकी विशेषता है। नागरी, बंबइया, गामडिया, सुरती, काठियावाड़ी इत्यादि गुजराती की प्रमुख बोलियां हैं।

(5) मराठी-महाराष्ट्र प्रांत की भाषा मराठी है। बंबई प्रांत में पूना के निकटवर्ती भू-भाग की बोली परिनिष्ठत मराठी मानी जाती है। इसकी अनेक बोलियां है, किन्तु उनमें से बहुत-सी स्थानीय हैं। सबसे प्रसिद्ध बोली कोंकणी है।

(6) बंगाली-डॉ0 चटर्जी ने बंगाली भाषा का उदय 950 ई. से मानते हुए उसके विकास-क्रम को तीन कालों में विभाजित किया है-(क) प्राचीन काल (95.ई.-1200 ई.), (ख) मध्यकाल (1200-1800ई) और (ग) आधुनिक काल (1800 ई. से वर्तमान समय तक)। बंगाली भाषा के दो भेद स्पष्ट हैं-पूर्वी बंगाली और पश्चिमी बंगाली। ढाका पूर्वी बंगाली का और कलकत्ता पश्चिमी बंगाली का केंद्र है। पश्चिमी बंगाली ही वस्तुतः बंगाली भाषा है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बंगाली साहित्यिक दृष्टि से संपन्न भाषा है।

(7) उड़िया-उड़ीसा को प्राचीन काल में उत्कल देश कहा जाता था। यही कारण है कि उड़िया को उत्कली भी कहा जाता है। बंगला से उड़िया का गहरा संबंध है, किन्तु बंगला में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है तो उड़िया में

मराठी और तेलगू के शब्दों का। उड़िया लिपि यद्यपि देवनागरी से ही विकसित हुई है, तथापि तेलुगू लिपि से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण यह नागरी से भिन्न प्रतीत होती है।

(8). असमी–आसाम की भाषा असमिया (असमी) कहलाती है। भौगोलिक दृष्टि से ऊंचा–नीचा होने के कारण असमी भाषी भू–भाग को असम कहा जाता है। असमी प्राय: बंगाली लिपि में लिखी जाती है।

(9). हिंदी–यह भारत की केंद्रीय या प्रमुख आर्य भाषा है, जो मुख्यत: शौरसेनी अपभ्रंश से और गौणत: मागधी और अर्धमागधी से अद्‌भूत हुई है, क्योंकि पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पूर्वी हिंदी आदि के सहयोग से वर्तमान मानक हिंदी का स्वरूप निर्मित हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्येतर भाषाएं

भारत वर्ष अनेक भाषा–भाषियों का देश रहा है। यह देश आदिकाल से ही विदेशियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। जिससे समय–समय पर विदेशी जातियां अपने–अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए यहां आते रहे और भारत की समृद्धि को क्षति पहुँचाते रहे, परन्तु इन विदेशी जातियों के आगमन, निवास, व्यावसायिक संबंध आदि अनेकों कारणों से यहाँ की भाषाएं भी प्रभावित होती रही तथा कुछ नवीन भाषाओं का जन्म भी हुआ होगा। फलस्वरूप भारत अनेक धर्मों के साथ–साथ विविध भाषा–भाषियों के देश के रूप में भी स्थापित हुआ। भारत में पाई जाने वाली मुख्य आर्येतर भाषाएँ इस प्रकार हैं –

द्राविड़ परिवार की भाषाएं

इस परिवार की प्रमुख भाषाएं हैं–1. तमिल (मद्रास में) 2. तेलुगु (आन्ध्र प्रदेश में), 3. कन्नड़ (मैसूर में), 4. मलयालम (केरल में)द्राविड़ परिवार में गोंडी (मध्य प्रदेश, बुन्देलखण्ड), कुरुख या ओराओं (बिहार, उड़ीसा), ब्राहुई (बलूचिस्तान) भाषाएँ भी आती हैं। तमिल भाषा तमिलनाडु और लंका में बोली जाती है। यह अत्यन्त समृद्ध भाषा है।

तेलुगु आंधप्रदेश की भाषा है। आंध्र जाति का नाम ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत और अशोक के अभिलेखों में मिलता है। कन्नड़ मैसूर राज्य की भाषा है। इसकी लिपि तेलुगु और तमिल भाषाओं से मिलती–जुलती है। मलयालम केरल की भाषा है।

बुरुशस्की (खजुना परिवार)

इस परिवार की भाषाएं भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर में पाई जाती हैं। कुछ विद्वान इसे मुंडा और द्राविड़ परिवार से संबद्ध मानते हैं। इसका क्षेत्र भारत-ईरानी, तुर्की और तिब्बती परिवार से घिरा है। अंडमान की अंडमनी भाषाभी एक स्वतंत्र परिवार की मानी जाती है।

चीनी परिवार

इस परिवार का क्षेत्र सम्पूर्ण चीन, बर्मा, स्याम तथा तिब्बत है। इस परिवार के अन्तर्गत चीनी (चीन में) थाई या स्यामी (स्याम या थाइलैण्ड में), ब्रह्मी या बर्मी (बर्मा में), तिब्बती (तिब्बत में), अनामी (कम्बोडिया, कोचीन, चीन, टोंकिन में) आदि भाषाएं आती हैं। उत्तराखण्ड के सीमान्त जिलों में इस परिवार से संबंधित भोटिया (रड़) भाषा का व्यवहार होता है।

दक्षिण पूर्व एशियाई (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार

इस भाषा परिवार के व्यवहार का क्षेत्र पश्चिम में भारत का उत्तरी पहाड़ी भाग तथा मध्य प्रदेश और उड़ीसा का कुछ भाग है। पूर्व में अन्नाम, श्याम, कम्बोडिया तथा दक्षिण में निकोबार द्वीप हैं।

इस परिवार की मुख्य भाषाएं पश्चिम में मुण्डा (कोल) तथा दक्षिण में निकोबार है। मुण्डा के भी दो वर्ग हैं। जिसमें उत्तरी के अन्तर्गत कनावरी, शबर आदि भाषाएं हैं। यह हिमायल की तराई में शिमला से बिहार तक बोली जाती है तथा दक्षिणी के अन्तर्गत संथाली, मुंडारी, भूमिज आदि भाषाएं आती हैं। संथाली भाषा का व्यवहार भारत में पूर्वी बिहार और पश्चिमी बंगाल में होता है। मुंडारी भाषा का व्यवहार नागपुर, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा मद्रास में होता है। मुंडा भाषाओं का प्रभाव भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि भाषाओं पर पड़ा है।

हिंदी भाषा का उद्‌भव और विकास

हिंदी गद्य के प्रारम्भिक गद्य-लेखकों- इंशा अल्ला खाँ, सदल मिश्र, सदासुखलाल, लल्लूलाल की भाषा खड़ी बोली नहीं थी। इनकी भाषा में खड़ीबोली भाषा की ओर उन्मुख होने का संकेत मिलता है। इंशा अल्ला खाँ ने 'आने-जाने वाली जो सांसें हैं' वाक्य को आधुनिक खड़ी बोली भाषा अथवा हिंदी भाषा में इस प्रकार लिखा है-'आतियाँ-जातियाँ जो सांसें हैं।' भारतेन्दु-युग

में खड़ी बोली भाषा के गद्य का प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द को खड़ी बोली भाषा के गद्य का जन्मदाता माना जाता है। भारतेन्दु ने खड़ी बोली के भाषा का जो बीज बोया, वह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल के प्रारम्भ में द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग में फला-फूला। आज हम जिस प्रकार के हिंदी गद्य का व्यवहार शिक्षा आदि के माध्यम से किया करते हैं, हिंदी गद्य का वैसा रूप भारतेन्दु युग में नहीं हो पाया था।

हिंदी गद्य का भारतेन्दु-युग आरम्भ होने से पहले हिंदी भाषा के दो रूप प्रचलित थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का खड़ी बोली हिंदी का अरबी-फारसी के शब्दों से भरा रूप और राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृत शब्दों से भरा हुआ था। भारतेन्दु जी ने इन दोनों अतिवादी रूपों को त्यागकर मध्यम मार्ग अपनाया। उन्होंने व्यवहार में आने वाले अरबी-फारसी के सरल शब्दों और संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग किया।

खड़ीबोली भाषा बनकर तो हिंदी-साहित्य में भारतेन्दु-काल में आयी, परन्तु यह उत्तर भारत की जनता के व्यवहार में इससे पहले ही आ चुकी थी। भाषा का यह नियम और स्वभाव है कि वह पहले जनता के व्यवहार में आती है, फिर उसका रूप स्थिर हो जाने के बाद उसमें साहित्य-रचना आरम्भ होती है। इसी आधार पर भारतेन्दुजी खड़ीबोली के भाषा-रूप का प्रयोग गद्य-साहित्य में आरम्भ कर सके। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही देशभर में घूमने वाले विभिन्न प्रान्तों के साधु, नट, कंजर और व्यापारी आपस में मिलने पर खड़ी बोली हिंदी में ही बात करते थे। उस समय तक खड़ीबोली का भाषा-रूप सम्पर्क का आधार बन चुका था।

भारतेन्दु बाबू हरिशचंद ने और उनके युग के साहित्यकारों ने खड़ीबोली के भाषा-रूप का प्रयोग किया। डॉ0 धीरेन्द वर्मा ने 'हिंदी-भाषा के विकास' को तीन भागों में विभाजित किया है–

आदि-काल-सन् 1000 से सन् 1500 ई. तक।

मध्य-काल -सन् 1500 से सन् 1800 ई. तक।

आधुनिक-काल-सन् 1800 से अब तक।

इस विभाजन को सभी भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है इससे स्पष्ट है कि हिंदी खड़ी बोली गद्य के जिस रूप का प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द औरउनके युग के साहित्यकारों ने किया, वह इससे 75 वर्ष पूर्व व्यवहार में स्थिर हो चुका था। हिंदी भाषा के आधुनिक-काल का परिचय डॉ0 द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने

इस प्रकार दिया है-'' इस काल में आकर हिंदी पूर्णतया विकसित हो गयी थी। अभी तक वह पद्य के लिए प्रयुक्त होती थी और उसमें गद्य-साहित्य बहुत कम लिखा गया था। परन्तु इस काल में आते ही एक ओर तो हिंदी की बोलयों में पर्याप्त साहित्य लिखा जाने लगा, दूसरी ओर उसकी ये बोलियाँ इतनी विकसित हो गयीं कि वे बोली न रहकर उपभाषा के पद पर आसीन हो गयीं। सबसे बड़ी बात यह है कि इस काल में आकर हिंदी की एक खड़ी बोली ने इतना अधिक विकास किया कि वह पहले तो मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि जिलों की केवल बोलचाल की ही बोली थी, परन्तु अब उपभाषा बनकर सर्वप्रथम पद्य एवं गद्य की एक समर्थ भाषा बनी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त मात्र में आ गये और इनमें अरबी-फारसी के साथ-साथ अंग्रेजी के शब्द भी प्रचुर मात्र में अपना लिये गये। इस प्रकार कुछ ही वर्शों में खड़ीबोली ने एक परिनिष्ठित हिंदी (मानक भाषा) का रूप धारण कर लिया, जिसमें से पुराने तद्भव एवं देशज शब्द निकल गये, नये-नये पारिभाषिक शब्दों को अपना लिया गया और ज्ञान-विज्ञान के लिए अत्यन्त सक्षम, सशक्त एवं समर्थ भाषा बना लिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतेन्दु-युग (1875 से 1900 तक) में ही खड़ी बोली में साहित्य-रचना हुई हो और इससे पूर्व खड़ीबोली में कोई साहित्य नहीं लिखा गया हो ऐसी बात नहीं है। उन्नसवीं शताब्दी के भारतेन्दु युग से पूर्व का सन् 1800 से 1844 तक का अर्थात् 44 वर्ष का समय रीतिकाल के अन्तर्गत आता है। यह असंभव है कि इस काल में खड़ीबोली में साहित्य-रचना हुई ही न हो। यह तो निश्चित है कि रीतिकाल में कविता की भाषा ब्रजभाषा रही। रीतिकाल तक क्या, भारतेन्दु युग की समाप्ति तक अर्थात् सन् 1900 ई. तक भक्ति और श्रृंगार की कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गयीं। भारतेन्दु ने केवल देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीयता संबंधी कविताएँ ही खड़ीबोली में लिखीं।

रीतिकाल में खड़ी बोली में गद्य-रचना आरम्भ हो गयी थी। सन् 1823 की गद्य-रचना 'गोरा-बादल की वीरता' प्राप्त होती है। उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य में रचित जिस ग्रंथ को प्रामाणिक माना गया है, वह रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषायोग वसिष्ठ' है। 'भाषा योग वासिष्ठ' का प्रकाशन सन् 1865 में नवल किशोर प्रेस, बम्बई से हुआ। खड़ी बोली गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज का भी पर्याप्त योगदान है। इस कॉलेज से सबंधित लोगों द्वारा रचितग्रंथ नासिकेतोपाख्यान, रामचरित, प्रेमसागर, लालचन्दिका टीका, भाषा कायदा, सिंहासन-बत्तीसी, बेताल-पचीसी, भक्तमाल-टीका और हातिमताई का

अनुवाद है। सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' यजुर्वेद तथा कठोपनिषद् की नचिकेता की कथा पर आधारित है। इसकी भाषा में पूर्वी प्रयोग, ब्रजभाषा के रूप तो हैं ही, स्थान-स्थान पर असन्तुलित-शिथिल वाक्यों के साथ-साथ पंडिताऊपन भी झलकता है। इतना होने पर भी यह ग्रंथ खड़ीबोली गद्य को पर्याप्त सुगठित रूप प्रस्तुत करता है। 'रामचरित' के रचयिता भी सदलमिश्र हैं। यह संस्कृत ग्रंथ– 'अध्यात्म रामायण' का हिंदीरूपान्तर है। इसकी भाषा 'नासिकेतोपाख्यान' के समान ही है। सदल मिश्र के अतिरिक्त लल्लूलाल तथा सदासुखलाल भी फोर्टविलियम कॉलेज से संबंधित थे। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना की है। यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद है। चतुर्भुज मिश्र ने पहले भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद ब्रजभाषा में किया। लल्लूलाल ने उसका खड़ी बोली में रूपान्तर कर दिया है। 'प्रेमसागर' की भाषा ब्रजभाषा से प्रभावित है। शब्दों के रूप समान नहीं है तथा अनिश्चित हैं। 'प्रेमसागर' में अनेक स्थलों पर ग्रामीण शब्दों के साथ-साथ अशुद्ध प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

'लालचन्दिका' 'बिहारी सतसई' की टीका है। 'बेताल पच्चीसी' शिवदास द्वारा रचित एक संस्कृत रचना का अनुवाद है। पहले सुरति मिश्र ने इसका ब्रजभाषा में अनुवाद किया। बाद में मजहरअली ने इसे खड़ी बोली में रूपान्तरित किया। 'भाषा कायदा' ब्रजभाषा का व्याकरण है, जिसे लल्लूलाल ने लिखा है। इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अर्थात् 1805 ई. में की। 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा के विषय में राजनाथ शर्मा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में लिखा है–''मुंशी इंशाअल्लाखाँ ने इसी समय अपनी छोटी-सी परन्तु प्रसिद्ध पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। उनका उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने काथा, जिसमें हिंदी का छुट और किसी बोली का पुट न हो। इसके साथ जिसमें हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों-का-त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। अर्थात् इंशा ऐसी भाषा लिखना चाहते थे, जो उस समय हिन्दू-मुसलमान दोनों की बोलचाल की भाषा थी। उस समय मुसलमान साहित्यिक हिंदी अर्थात् ब्रजभाषा को 'भाखा' कहते थे। इंशा इसके (ब्रजभाषा के) प्रभाव से मुक्त बोलचाल की शिष्ट भाषा प्रयोग करना चाहते थे। ऐसा करना उन्हें असंभव प्रतीत होता था। उन्होंने संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों से

बचने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उनकी शैली उर्दू-फारसी की शैली से प्रभावित हो ही गई। इंशा की उपर्युक्त आकांक्षा में यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने बोलचाल की भाषा को साहित्य-क्षेत्र में उतारने का प्रयत्न किया था, इसी कारण इनकी भाषा में सहज प्रवाह न आ सका। इंशा के समय तक खड़ीबोली उर्दू कविता में प्रयुक्त होते-होते काफी मँज चुकी थी और खड़ीबोली की यही मँजाहटल अपने चुलबुलेपन और रंगीनी के साथ 'रानी केतकी की कहानी' में उतर आयी है। मुहावरों का प्रयोग उसकी विशेषता है।'' इस विवेचना से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी ईस्वीं में खड़ी बोली हिंदी में गद्य-रचना आरम्भ हो गई थी। ज्यों-ज्यों उन्नीसवीं शताब्दी आगे बढ़ती गयी, त्यों-त्यों खड़ी बोली मानक तथा परिनिष्ठित होती गयी। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होते-होते खड़ी बोली गद्य में स्तरीय साहित्यिक रचनाएँ होने लगी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में खड़ीबोली में काव्य-रचना प्रारम्भ हुई। यह बात अलग है कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा का सा माधुर्य सन् 1920 के बाद आपाया।

भाषा और बोली

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भाषा और बोली में कोई अंतर नहीं है। विचारों का आदान-प्रदान कराने वाले माध्यम के लिए ये दो अलग-अलग नाम है। एक बोली समय के अन्तराल से भाषा बन जाती है, और कभी की भाषा कालान्तर में बोली ही रह जाती है। जब कोई बोली किन्हीं कारणों से विस्तृत भू-भाग में साहित्य, शिक्षा और शासन के कार्यों में व्यवहृत होने लगती है तो भाषा कहलाने लगती है। बोली को डॉ0 राजमणि शर्मा ने इस प्रकार परिभाषित किया है-''किसी भाषा के ऐसे सीमित एवं क्षेत्र विशेष के रूप को बोली कहा जाता है जो एक तरफ ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ, शब्द तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से अपने क्षेत्र विशेष में महत्त्वपूर्ण एवं स्पष्ट वैभिन्न्य से संपृक्त नहीं होती, दूसरी तरफ इस धरातल पर वह उस भाषा के परिनिष्ठित रूप से भिन्न तो हो पर इतना भिन्न न हो कि अन्य रूपों के वक्ता उसे समझ न सके।'' स्पष्टतः एक भाषा के अन्तर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें बोली कहते हैं।

इस संदर्भ में बाबूराम सक्सेना का मत है कि-भाषा और बोली दोनों शब्द वाणी के द्योतक हैं, आपेक्षिक दृष्टि से एक का क्षेत्र सीमित है, दूसरी का विस्तृत। बोली भाषा के अन्तर्गत है, भाषा बोली के अंतर्गत नहीं। ध्वनिग्राम

(स्वनिम) और ध्वनियों में जो अंतर है, वही अंतर भाषा और बोली में है। एक ही भाषा की दो बोलियों को बोलने वालों को परस्पर समझने में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है, दो भाषाओं को समझने में ज्यादा।

भाषा और बोली के प्रमुख भेदक तत्त्व हैं–

स्टीवर्ट द्वारा निर्दिष्ट मानक भाषा के चार लक्षणों-मानकीकरण,स्वायत्तता, ऐतिहासिकता और जीवंतता- के आधार पर भाषा और बोली के अंतर को समझने में सहायता मिल सकती है। भाषा अथवा मानक भाषा में ये चारों अभिलक्षण एक साथ मिलते हैं, जबकि बोली में ऐतिहासिकता और जीवंतता के लक्षण तो विद्यमान रहते हैं, किन्तु मानकीकरण और स्वायत्तता का अभाव पाया जाता है।

भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है और बोली का सीमित। अर्थात् भाषा का व्यवहार अधिक दूर तक होता है और बोली का अपेक्षाकृत कम दूर तक। अतः एक भाषा के क्षेत्र में अनेक बोलियाँ होती हैं, किन्तु एक बोली के क्षेत्र में अनेक भाषाएँ नहीं हो सकतीं।

एक भाषा की जितनी बोलियाँ होती हैं, उनमें उच्चारण, शब्द-समूह व्याकरण इत्यादि का भेद रहते हुए भी परस्पर, बोधगम्यता बनी रहती है, किन्तु दो भाषाओं में इसका अभाव पाया जाता है। उदाहरणार्थ-खड़ी बोली में 'लड़का गया' बोलने वाला– ब्रज- छोरा गयौय कन्नौजी- छोरा गओय अवधी-लरिका गवाय भोजपुरी- लरिका गइल वाक्यों को भी समझ लेता है। इसके विपरीत हिंदी- लड़का गया बोलने या समझने वाला व्यक्ति अंग्रेजी का ज्ञान नहीं रखता हो तो वह वाक्य को नहीं समझ सकता।

भाषा का प्रयोग शिक्षा, शासन, साहित्य-रचना आदि के लिए होता है किन्तु बोली का दैनिक व्यवहार के लिए।

भाषा का मानक रूप सामाजिक प्रतिष्ठा और औपचारिक शिक्षा का माध्यम होता है। भाषा साधारणता बोली के प्रभाव से मुक्त रहती है, यद्यपि आंचलिक साहित्य में क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का व्यवहार मिलता है।

विश्व आज जिस दौर से गुजर रहा है, उसमें कई स्तरों पर बदलाव आए हैं। भूमंडलीकरण के कारण लोगों के सांस्कृतिक, भाषाई और देशज सोच में बदलाव आए हैं। भारतीय समाज में इस बदलाव का असर कहीं अधिक देखा जा रहा है। जिससे लोगों में मूल्यों से अधिक सुख-सुविधाओं के प्रति कहीं ज्यादा मोह बढ़ा है। पैसा जीवन का पर्याय बन गया है। सांस्कृतिक और भाषाई

चेतना धीरे-धीरे बदलती या गायब होती दिखाई पड़ रही है। ऐसे में सांस्कृतिक और भाषाई चेतना को लेकर संकट महसूस होना लाजमी है।

जिस प्रकार से संस्कृतियों का वर्षों से अंतर्संबंध रहा है उसी तरह से भाषाई अंर्तसंबंध भी रहा है, लेकिन इस अंतर्संबंध को हमने कभी गहराई से समझने का प्रयत्न किए ही नहीं। यही कारण है हम एक देश में रहते हुए भी आंचलिकता और अदृष्टता के संकीर्ण खूंटे में बंधे रहे और इसी को पूर्णता समझते रहे। इस संकट को महर्षि दयानंद और महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता के बहुत पहले ही समझ लिया था। इतना ही नहीं, अंग्रेजी के सम्मोहन में बंधे भारतीयों की मन:स्थिति का अनुभव भी कर लिया था। अंग्रेजी का खतरा केवल हिंदी के लिए ही नहीं अपितु भारतीय भाषाओं पर ही उसी तरह से है। गांधी कहते हैं-''आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों भारतीय आपस में अंतप्रान्तीय संपर्क कामय करें। स्पष्ट है कि अंग्रेजी के द्वारा दस पीढ़िया गुजर जाने के बाद भी हम परस्पर संपर्क स्थापित न कर सकेंगे।'' स्पष्ट है सात दशक व्यतीत हो जाने के बाद भी गांधी द्वारा महसूस किया गया भाषाई संकट आज भी उससे कहीं अधिक गहरा हो गया है। हम भले ही इसे राजनीतिक षड्यंत्र या स्वार्थ का परिणाम बताएं लेकिन सच यह भी कि हिंदी और हिंदीतर भाषाओं का आपसी भाईचारा कायम करने में यह सबसे बड़ा बाधक रहा है। अब जबकि हिंदी का संकट अन्य कई तरह से हमारे सामने दृष्टव्य होने लगा है, भारतीय भाषाओं का आपसी भाईचारा का मुद्दा गौड़ होता जा रहा है। ऐसे में डॉ. रामविलास शर्मा का यह कथन कितना प्रासंगिक हो जाता है-''हिंदी अंग्रेजी का स्थान ले, इसकी बजाय यह वातावरण बनाना चाहिए कि सभी भारतीय भाषाएँ अंग्रेजी का स्थान लें।''

हिंदी की व्यापकता का दायरा उसके संग्रहणीयता और उदारता के कारण है। यही कारण है कि देश के प्रत्येक अंचल में हिंदी उस आंचलिक भाषाई मिठास के रूप में उपस्थित है। लेकिन यह मिठास तब खटास में बदल जाती है जब इसमें अंग्रेजी की घृणात्मकता का तथा कथित विकास, भूमंडलीकरण और उदारीकरण के नाम पर मिलाई जा रही कृत्रिमत्ता, उसकी मौलिकता और नवीनता को खत्म करने का कार्य करने लगती है। स्पष्ट है, हिंदी में उदारता के नाम पर उसे उसकी मौलिकता, नवीनता और सृजनात्मकता को धुसरित किया जा रहा है। हिंदी भारतीय भाषाओं की मिठास, नवीनता और सृजनात्मकता की पावनी पवित्रता से वंचित होती जा रही है। इसे इस रूप में भी हम समझ सकते

हैं कि हिंदी अंग्रेजी की अवैज्ञानिकता, दब गई और विचित्रत्मकता के कारण 'हिंग्लिश' के रूप में अपना स्वभाव खोती जा रही है और 'निर्मित' होने की जगह खंडहर में बदलती जा रही है। आवश्यकता है भारतीय भाषाओं के शब्दों, शैलियों और सांस्कृतिक चेतना से लबरेज होकर हिंदी और भी सहज और संग्रहणीय बने, लेकिन हो रहा है इसका ठीक उल्टा। इससे हिंदी का अन्य भारतीय भाषाओं का अंतर्संबंध बढ़ने और गहरे होने के स्थान पर दुरूह होते जा रहे हैं। इस पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

भारत सांस्कृतिक विविधता के साथ ही साथ भाषाई विविधता वाला देश है। कोस-कोस पर बदले पानी चार कोस पर बदले वाणी की कहावत इसी परिपेक्ष्य में प्रचलित रही है। अनेक बदलावों के बाद भी आज भारत की सांस्कृतिक और भाषाई विविधता अपने मूल स्वरूप में कायम दिखती है। जब हम भाषाई विविधता की बात करते हैं तो हमारे सामने भारत में बोली जाने वाली प्रादेशिक भाषाओं की बात ही नहीं आती बल्कि सैकड़ों की तादाद में बोली जाने वाली बोलियां भी इसमें सम्मिलित होती हैं। भारतीय संस्कृति और समाज के विकास में किसी के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। हमारे लिए जितनी महत्त्वपूर्ण हिंदी है उतनी ही तमिल, तेलुगु, कन्नड़, पंजाबी, डोगरी, बोडो, मलयालम, बंगला, असमिया, मराठी और कश्मीरी है। यदि हिंदी राजभाषा और राष्ट्र भाषा-रूपी गंगा की धारा है तो अन्य प्रदेशिक भाषाएं भी कावेरी, सतलज और ब्रह्मपुत्र की धाराएं हैं। जैसे सभी नदियां बहते हुए समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं उसी तरह से भारत की सभी भाषाओं का मिलान भी निरंतर होता रहता है। सुब्रह्मण्यम भारती ने कभी कहा था-''भारत माता भले ही 18 भाषाएं (अब 22 हो गई हैं) बोलती हों, फिर भी उसकी चिंतन प्रक्रिया एक ही है।''

आज भूमण्डलीकरण का दौर है। भाषा-संस्कृति की महत्ता बाजारवाद के आगे दबती नजर आ रही है। लेकिन इस बात को नहीं नकारा जा सकता कि भारतीय भाषाओं के अंतर्संबंध तथा भारतीय संस्कृति की विराटता आज कहीं पहले से अधिक महत्त्व का हो गये हैं। अपनी पहचान के लिए हमें हर हाल में, इस संबंध को समझना और जीना होगा। बिना इसके भारतीयता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इन्हीं से हमारी पहचान है। हिंदी छह दशक पहले इस देश की राजभाषा बनी थी, लेकिन राष्ट्रभाषा कब बनेगी, इस पर न तो कोई राजनेता बोलने की स्थिति में है न तो हिंदी के ध्वजवाहक ही। यह जानते हुए भी कि हिंदी को भारत की पहचान के लिए जीवित रहना ही नहीं मुखर रहना भी

आवश्यक है। और हिंदी न तो बिना भारतीय भाषाओं के सहयोग से जीवित रह सकती है और न भारतीय भाषाएं हिंदी के बिना जिंदा रह सकती हैं। सदियों से हिंदी और भारतीय भाषाओं का जो अंतर्संबंध रहा है, वह सहोदर बहनों की तरह रहा है। कन्या कुमारी से लेकर कश्मीर तक भारत को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य यदि किसी भाषा ने किया तो वह हिंदी है। इस लिए हिंदी किसी भारतीय भाषा के लिए खतरा बनेगी, प्रश्न ही नहीं उठता है। हिंदी और भारतीय भाषाओं को खतरा तो अंग्रेजी और हिंग्लिश से है। इस लिए वक्त की नजाकत को समझते हुए प्रत्येक देशवासी को हिंदी या भारतीय भाषाओं के संबंधों पर सवाल न उठाकर अंग्रेजी की बढ़ती एकाधिकारिता पर सवाल उठाने चाहिए और इससे सावधान रहना चाहिए। अब समय आ गया है कि हिंदीतर भाषी प्रदेशों को नए सिरे से हिंदी को अपनी प्रान्तीय भाषा के संबंधों से विचार-विमर्श करना चाहिए।

भाषा के बिना न तो किसी देश की कल्पना की जा सकती है और न तो किसी समाज की ही। इस लिए भाषा की उपेक्षा का मतलब स्वयं अपने अस्तित्त्व को ही नकारना। जैसे विविधताओं के बीच भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान कभी नहीं रुकता इसी तरह भाषाई विविधता के होते हुए भी भाषाओं के मध्य आदान-प्रदान नहीं रुकता। वह चाहे भाषाई संस्कृति के रूप में हो, या व्याकरणिक रूप में या वचनात्मक रूप में हो। भाषाओं के अंतर्संबंध को न तो रोका जा सकता है और न तो समाप्त किया जा सकता है।

हिंदी हमारे देश की राज भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। आजादी के पहले भी यह संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग की जाती रही है। यही कारण है कि हिंदी के अनेक शब्द, क्रियापद और संज्ञाएं भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं में उसी अर्थ में या दूसरे अर्थ में मिल जाते हैं। इतना ही नहीं, हिंदी की सहजता, वैज्ञानिकता और रागात्मकता भी भारत की प्रान्तीय भाषाओं में मिल जाती है। यह सब सहज रूप से हुआ है। हिंदी के लिए जितना हिंदी भाषा-भाषियों के लिए महत्त्व है उससे कहीं अधिक गैर हिंदी भाषी के लिए महत्त्व है। वह हिंदी को उसके शुद्धात्मक रूप में अपनाने का कहीं अधिक प्रयास करता है।

हिंदी किसी न प्रान्त की भाषा रही है और न तो किसी जाति, वर्ग या क्षेत्र विशेष की भाषा रही है। हिंदी बहती नदी की धारा की तरह सब के लिए उपयोगी और कल्याणकारी रही है। यही कारण है गैर हिंदी भाषा भाषी क्षेत्रों के हिंदी उन्नायकों ने हिंदी को जन भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए इसके उत्थान

के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। वह चाहे गुजराती भाषा भाषी महर्षि दयानंद और गांधी रहे हों, बंगाल के राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन और रवींद नाथ टैगोर तथा नेता सुभाष रहे हों, या महाराष्ट्र के नामदेव, गोखले और रानाडे रहे हों। इसी तरह तमिलनाडु के सुब्रह्मण्यम भारती, पंजाब के लाला लाजपत राय, आंध्र प्रदेश के प्रो. जी. सुंदर रेड्डी जैसे अनेक अहिंदी भाषा भाषी क्षेत्रों में हिंदी को बढ़ावा देने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का अंतर्संबंध प्रगाढ़ होने में सबसे बड़ी बाधा अंग्रेजी रही है। अंग्रेजों ने स्वतंत्रता के पूर्व ही इसका जाल तैयार कर दिया था। और भाषा जो हमारे जीवन, समाज और संस्कृति का अभिन्न अंग है, उसको राजनीतिक रंग दे दिया गया। स्वतंत्रता के 70 वर्षों के बाद आज जब हम हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के संबंधों का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि यह संबंध सुदृढ़ होने की जगह निरंतर कमजोर हुए हैं। हिंदी वालों को तमिल, तेलगू, कन्नड़, पंजाबी और उड़िया शब्द-संस्कृति में तैरने की जगह अंग्रेजी के जाल-जंजाल में अधिक भाता रहा है। इस बिडम्बना और संकट को वर्षों पूर्व हिंदी के महान् उन्नायक फादर डॉ. कामिल बुल्के ने समझ लिया था। डॉ. बुल्के कहते हैं– ''भारत पहुँचकर मुझे यह देखकर दु:ख हुआ कि बहुत से शिक्षित लोग अपनी ही संस्कृति से नितांत अनभिज्ञ हैं और अंग्रेजी बोलना तथा विदेशी सभ्यता में रंग जाना गौरव की बात समझते हैं।''

हम भले की हिंदी का विरोध करने वाले दक्षिण के कुछ राज्यों के अंग्रेजी परस्त राजनेताओं के स्वार्थवादी और संकीर्णवादी विरोध को अपने अनुसार अलग-अलग तर्कों से इसे 'किन्तु-परंतु' में उलझाकर इसके पीछे मंसूबे को दरकिनार कर दें, लेकिन इस वास्तविकता को ऐसे झुठला सकते हैं कि इसके पीछे मुख्य रूप से भारतीय भाषाई सांस्कृतिक चेतना को कमजोर करने का ही उद्देश्य रहा है। अंग्रेजी को यदि भारतीय अस्मिता, संस्कृति और सुख का पर्याय बनाना है तो सबसे पहले हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के अंतर्संबंधों को कभी मजबूत नहीं बनने देना है। इस घृणित मंसूबे के कारण ही अंग्रेजी का प्रभुत्व लगातार भारतीय भाषाई चेतना को अचेतन बनाता रहा है। हम इस संकट को समझने में निरंतर भूल करते आ रहे हैं। इसे समझने की आवष्यकता है।

इस सच्चाई को हम कैसे झुठला सकते हैं कि आज भी तमिल, कर्नाटक, आंध्र, केरल, त्रिपुरा, असम, महाराष्ट्र, गुजरात जैसे अनेक राज्यों में हिंदी समझने वाले, बोलने वाले ही नहीं हिंदी में लेखन करने वाले सैकड़ों लेखक-पत्रकार

मिल जाते हैं, जो हिंदी को समृद्ध बनाने के लिए पूरे मनोवेग से कार्य कर रहे हैं। इससे हिंदी का अन्य भारतीय भाषाओं के अंतर्संबंधों में मजबूती आ रही है, लेकिन यह आवश्यकता से बहुत कम है। या कहें यह ऊँट के मुंह में जीरे के समान है। लेखक को भारत सरकार के गैर हिंदी भाषा भाषी पत्रकार -लेखक शिविर में प्रशिक्षक के तौर पर सम्मिलित होने का अवसर मिला है। और उन नव लेखक-पत्रकारों की भाषाई चेतना को नजदीक से देखा समझा है। जिस उत्सुकता और संकल्प को गैर हिंदी भाषा भाषी नवलेखकों में देखने को मिला, वह आश्चर्य में डालने वाला था। यहाँ तक कि तमिलनाडु जहाँ हिंदी का सबसे अधिक विरोध कभी हुआ करता था उस क्षेत्र के नव हिंदी लेखक हिंदी को तमिल के साथ सहअंतर्संबंधों को सबसे अधिक प्रगाढ़ बनाने की बात करते दिखे। इतना ही नहीं, तमिल के शब्दों को हिंदी में प्रयोग करने के आश्चर्यजनक तजुर्बे भी हुए।

हिंदी का स्वभाव और भारतीय भाषाओं का स्वभाव एक जैसा है। किसी भी स्तर पर टकराव नहीं है। फिर क्यों हिंदी का विरोध गैरहिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों में यत्र-तत्र देखा जाता है? यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दरअसल, आजादी के पहले अंग्रेजों ने भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण कराया था, उसके पीछे न कोई भाषाई तथ्य, व्याकरण और लिपि का आधार था और न ही सांस्कृतिक या धार्मिक ही। भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण इस तरह से किया गया कि जिससे यह साबित हो सके कि आर्य भाषा परिवार' की भाषाओं और 'द्रविड़ भाषा परिवार' की भाषाओं में न पूरकता है और न ही कोई अंतर्संबंध ही है। जिससे उन्हें भाषा के नाम पर भी देश को विभाजित कर राज्य करने में सुविधा हो सके। गौरतलब है 'आर्य भाषा परिवार' का नामकरण मैक्समूलर के द्वारा किया गया और द्रविड़ भाषा परिवार' का नामकरण पादरी राबर्ट काल्डवेल के द्वारा किया गया।

आधुनिक भारतीय भाषा विज्ञानिकों की दृष्टि आज भी वैसी ही है जैसी स्वतंत्रता के पूर्व थी। आज भी भाषा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि भारत की आर्य भाषाओं का ईरानी, यूनानी, जर्मन और लातीनी भाषाओं से किसी न किसी स्तर पर अंतर्संबंध हैं लेकिन विध्यांचल के दक्षिण में प्रचलित भाषाओं से आर्य भाषाओं का कोई संबंध नहीं जुड़ता है। हम सभी इस बात पर विचार करने के लिए ही तैयार नहीं हैं कि दक्षिण की भाषाएं द्रविड़ परिवार की हैं और उत्तर भारत की भाषाएं आर्य परिवार की। इस धारणा को दृढ़ता प्रदान करने में पादरी

कॉल्डवेल की पुस्तक ' द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन' का योगदान सबसे अधिक रहा है। स्पष्ट है जब भी इस विषय पर चर्चा होती है तो भारत के भाषा वैज्ञानिक उक्त पुस्तक का हवाला देकर यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि फादर काल्डवेल का शोध इस सम्बंध में भाषाई अंतर्सम्बंधों को समझने में मील का पत्थर है। वहीं पर इस धारणा को अपने शोधपरक और तथ्यपरक तर्कों से निर्मूल साबित करते हुए कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर एम.बी. एमनो ने अपने तथ्यपरक निबंध ' भारत एक भाषाई क्षेत्र' में कहा है–''एक ही भूखंड की भाषा होने के कारण उत्तर और दक्षिण भारतीय भाषाओं की वाक्य रचना में, प्रकृति और प्रत्यय में, शब्द और धातु में, भाव–धारा और चिंतन प्रणाली में और कथन–शैली में प्रत्येक स्तर पर समानता दिखाई पड़ती है।''

भारतीय भाषा आचार्य काशी राम शर्मा ने अपने तथ्यपरक विवेचना से इस धारणा को निर्मूल साबित किया है कि जो अभिलक्षण द्रविण भाषाओं (13 अभिलक्षण माने गए हैं) में पाए जाते हैं वही अभिलक्षण उत्तर की भाषाओं में भी पाए जाते हैं। आचार्य काशीराम के शोध के अनुसार दक्षिण भारत की भाषाएं और हिंदी का उद्देश्य एक ही है। कहने का मतलब यह है कि जो अलगाव विदेशी भाषाविद् भारतीय भाषाओं में देखते हैं वह कहीं न कहीं उनके दुराग्रह और स्वार्थवादी प्रवृति के कारण ही है।

हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में साम्यता एक स्तर पर नहीं है। सैकड़ों की संख्या में ऐसे शब्द हैं जो हिंदी में भी इस्तेमाल किए जाते हैं और अन्य भारतीय भाषाओं में भी। उदाहरण के लिए तेलगु में प्रयुक्त 'दर्जी' शब्द हिंदी में भी प्रयोग होता है और अन्य दूसरी भाषाओं में भी। इसी तरह कागज, ताला, फकीर, ताजा, अम्मा आदि जैसे अनेक शब्दों का प्रयोग हिंदी सहित भारत की अधिकांश भाषाओं में प्रयोग होते हैं। इसी तरह पंजाबी भाषा जो गुरुमुखी में लिखी जाती है के हजारों शब्द हिंदी में प्रयोग में दिखाई देते हैं। वस्तुतः ये शब्द संस्कृत से हिंदी और पंजाबी में प्रयोग में आए। आज दोनों भाषाओं में संस्कृत के इन शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले के साथ किया जाता है। यदि लिपि को छोड़ दिया जाए तो कोई भी हिंदी भाषा–भाषी व्यक्ति जो कुछ पढ़ा–लिखा हो उसे पंजाबी समझ में आ जाती है। इसी तरह पंजाबी को हिंदी समझते देर नहीं लगती। दोनों एक ही भाषा परिवार की मानी जाती हैं। दोनों का प्रयोग सदियों से आपसी भाईचारे को बढ़ावा देने के लिए किया जाता रहा है। पंजाब में मध्यकाल में ब्रज भाषा

और गुरुमुखी लिपि में, इसके सुमेल से ही हिंदी साहित्य का सृजन हुआ। गुरु गोबिंद सिंह और इनके दरबारी कवि, पंजाब के दूसरे राज्याश्रित कवि गुरुमुखी लिपि में ब्रज भाषा की रचना करते थे। यह निकटता हिंदी और पंजाबी संस्कृतियों को भी रेखांकित करती है। पंजाबी और हिंदी भाषा के अंतर्संबंध भक्तिकाल, गुरुवाणी और आधुनिक युग के साहित्य में भी सहज सुलभ है। प्रो. पूर्णसिह, अमृता प्रीतम, देवेन्द सत्यार्थी और अजीत कौर जैसे न जाने कितने रचनाकार जो पंजाबी पृष्टभूमि के होते हुए भी हिंदी में सब को स्वीकार हुए।

इस बात को कितने लोग जानते हैं कि जिस लिपि देवनागारी में हिंदी-संस्कृत लिखी जाती है उसी लिपि में कश्मीरी और मराठी भी लिखी जाती रही है। लिपि की एकता ने भी हिंदी को मराठी, कश्मीरी को पास आने का अवसर दिया। इसी तरह गुजराती लिपि भी कुछ अंतर से देवनागरी जैसी ही है। गुजराती और हिंदी का अंतर्सम्बंध जगजाहिर है। गुजराती भाषियों ने हिंदी को बढ़ावा देने के लिए क्या नहीं किया।

इसी तरह मलयालम में अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत से सीधे ग्रहण किए गए हैं। मलयालम बोलते समय ऐसा लगता है, बोलने वाला संस्कृत का बदले हुए रूप वाली भाषा बोल रहा है।

उच्च स्तर के अनुसंधानों से यह साबित हो चुका है कि हिंदीतर प्रदेशों में रचा गया हिंदी साहित्य परिणाम में अतुलित तो है ही, साहित्यिक विशेषताओं से भी उत्कृष्ट कोटि का है। इस बात को हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र के लोगों को समझनी चाहिए कि जिस प्रकार से हिंदीतर प्रदेशों में हिंदी को समृद्ध बनाने के लिए गैर हिंदी भाषा-भाषी लेखक, पत्रकार और हिंदी प्रचारकों ने अपना जीवन समर्पित करके हिंदी को सर्वसुलभ और सर्वमान्य भाषा बनाने में लगे हुए हैं उसी तरह अन्य भारतीय भाषाओं को भी हिंदी क्षेत्र के लोगों को सीखना चाहिए और जहां तक हो सके, संबंधों में जीना चाहिए। इससे हिंदी और अच्छी तरह से देशभर में आगे बढ़ सकेगी।

आज मीडिया का जमाना है। अंतरजाल (इंटरनेट) के कारण सारा विश्व एक ग्लोबल गांव के रूप में विकसित होता जा रहा है। ऐसे में हिंदी और भारतीय भाषाओं को एक साथ विश्व स्तर पर स्थापित करने के अवसर अधिक बढ़ गए हैं। लेकिन इसके लिए पूरब-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण का भेद मिटना चाहिए। अंग्रेजी के प्रति जैसा रोजगार के कारण व्यामोह बढ़ गया है, उसकी जगह हिंदी और भारतीय भाषाओँ के प्रति अनुराग को पैदा करना होगा। हिंदी विश्व स्तर पर

तब अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेगी जब उसकी अन्य बहनों यानी भारतीय भाषओं को भी पुरा सम्मान मिले। स्पष्ट है प्रत्येक भाषा के साथ उसकी अपनी संस्कृति भी होती है।

यदि भाषा को बचना है तो उस भाषा की संस्कृति को भी बचाना आवश्यक है। गौरतलब है, इस भाषाई संस्कृति के कारण है, भारत विविधताओं का देश होते हुए भी हमेशा एक नजर आता है। यह भाषाई विविधता कहीं समाप्त न हो जाए, इसके प्रति हमें सचेत रहने की आवश्कता है। अंग्रेजी के व्यामोह ने हिंदी और भारतीय भाषाओं के अंतर्सम्बंधों में अच्छा-खासा असर डाला है। यही कारण है, शिक्षा के क्षेत्र में जब पूरे देश में हिंदी माध्यम से पठन-पाठन की बात आती है तो हिंदी के विरोध में आवाज बुलंद की जाने लगती है लेकिन अंग्रेजी के नाम पर कोई किसी तरह का विरोध नहीं दिखाई पड़ता है। जब कि अंग्रेजी से हिंदी को जितना खतरा है उतना ही खतरा भारतीय भाषाओं को भी है। इस सच्चाई को यदि हम समझ लें तो भारत की राष्ट्रभाषा की हकदार हिंदी और भारतीयता की पहचान भारतीय भाषाओं पर मंडराता संकट समाप्त हो सकता है। एक ही देश की भाषाओं में विरोधाभाष देखना या दिखलाना हमारी अपनी दृष्टि नहीं हो सकती। यह तो विदेशी दृष्टि है, जो हमेशा भाषा और संस्कृति के नाम पर विभाजन की बात करती रही है। (लेखक साहित्यकार और अनुसंधानक हैं)

2

मध्यकालीन आर्य भाषा

पालि भाषा

पालि प्राचीन उत्तर भारत के लोगों की भाषा थी जो पूर्व में बिहार से पश्चिम में हरियाणा-राजस्थान तक और उत्तर में नेपाल-उत्तरप्रदेश से दक्षिण में मध्यप्रदेश तक बोली जाती थी। भगवान बुद्ध भी इन्हीं प्रदेशों में विचरण करते हुए लोगों को धर्म समझाते रहे। आज इन्हीं प्रदेशों में हिन्दी बोली जाती है। इसलिए, पाली प्राचीन हिन्दी है। यह हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार में की एक बोली या प्राकृत है। इसको बौद्ध त्रिपिटक की भाषा के रूप में भी जाना जाता है। पाली, ब्राह्मी परिवार की लिपियों में लिखी जाती थी।

'पालि' शब्द का निरुक्त

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बंध में विद्वानों के नाना मत पाए जाते हैं। किसी ने इसे पाठ शब्द से तथा किसी ने पायड (प्राकृत) से उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। एक जर्मन विद्वान् मैक्स वैलेसर ने पालि को 'पाटलि' का संक्षिप्त रूप बताकर यह मत व्यक्त किया है कि उसका अर्थ पाटलिपुत्र की प्राचीन भाषा से है। इन व्युत्पत्तियों की अपेक्षा जिन दो मतों की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव है, उनमें से एक तो है पं. विधुशेखर भट्टाचार्य का मत, जिसके अनुसार पालि, पंक्ति शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। पंक्ति को मराठी में पाळी बोलते

हैं और मराठी में और संस्कृत में पालन शब्द भी है जिसका मतलब है जिसका लोग पाल पोसकर बढ़ा करते है या पालन का मतलब जिसका नियम के अनुसार अवलंब या इस्तेमाल किया जाता है। इस मत का प्रबल समर्थन एक प्राचीन पालि कोश अभिधानप्पदीपिका (12वीं शती ई.) से होता है, क्योंकि उसमें तंति (तंत्र), बुद्धवचन, पंति (पंक्ति) और पालि इन शब्दों में भी स्पष्ट ही पालि का अर्थ पंक्ति ही है। पूर्वोक्त दो अर्थों में पालि के जो प्रयोग मिलते हैं, उनकी भी इस अर्थ से सार्थकता सिद्ध हो जाती है। बुद्धवचनों की पंक्ति या पाठ की पंक्ति का अर्थ बुद्धघोष के प्रयोगों में बैठ जाता है। तथापि ध्वनिविज्ञान के अनुसार पंक्ति शब्द से पालि की व्युत्पत्ति नहीं बैठाई जा सकती। उसकी अपेक्षा पंक्ति के अर्थ में प्रचलित देशी शब्द पालि, पाठ्ठ, पाडू से ही इस शब्द का सबंध जोड़ना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। पालि शब्द पीछे संस्कृत में भी प्रचलित हुआ पाया जाता है। अभिधानप्पदीपिका में जो पालि की व्युत्पत्ति "पालेति रक्खतीति पालि", इस प्रकार बतलाई गई है उससे भी इस मत का समर्थन होता है। किंतु "पालि महाव्याकरण" के कर्ता भिक्षु जगदीश कश्यप ने पालि को पंक्ति के अर्थ में लेने के विषय में कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं और उसे मूल त्रिपिटक ग्रंथों में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त 'परीयाय' (पर्याय) शब्द से व्युत्पन्न बतलाने का प्रयत्न किया है। सम्राट् अशोक के भाब्रु शिलालेख में त्रिपिटक के 'धम्मपरियाय' शब्द स्थान पर मागधी प्रवृत्ति के अनुसार 'धम्म पलियाय' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ बुद्ध-उपदेश या वचन होता है। कश्यप जी के अनुसार इसी पलियाय शरण से पालि की व्युत्पत्ति हुई।

मूल त्रिपिटक में भाषा का कहीं कोई नाम नहीं मिलता। किंतु बुद्धघोष आदि आचार्यों ने बुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी कहा है। विसुद्धिमग्ग एवं महावंस में इस मागधी को सब प्राणियों की मूलभाषा कहा गया है। उसके स्थान पर पालि शब्द का प्रयोग प्रायः 14वीं शती ई. के पूर्व नहीं पाया जाता। हाँ, बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में पालि शब्द का प्रयोग किया है, किंतु यह भाषा के अर्थ में नहीं, बुद्धवचन अथवा मूलत्रिपिटक के पाठ के अर्थ में किया है और वह भी प्रायः उस पाठ को अट्ठकथा से भिन्न दिखलाने के लिए। इस प्रकार कहीं उन्होंने कहा है कि इसकी पालि इस प्रकार है, किंतु अट्ठकथा में ऐसा है, अथवा यह बात न पालि में है और न अट्ठकथा में आई है। बुद्धघोष के समय से कुछ पूर्व लिखे गए दीपवंस में तथा उनके पश्चात्कालीन महावंस आदि रचनाओं में भी पालि शब्द का इन्हीं दो अर्थों में प्रयोग किया गया पाया

जाता है। इसी अर्थप्रयोग से क्रमशः पालि शब्द उस साहित्य तथा उसकी भाषा के लिए भी किया जाने लगा।

पालि तथा अन्य मध्ययुगीन आर्यभाषाएँ

भाषा की दृष्टि से पालि उस मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा का एक रूप है जिसका विकास लगभग ई.पू. छठी शती से माना जाता है। उससे पूर्व की आदियुगीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप वेदों तथा ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में प्राप्त होता है, जिन्हें 'वैदिक भाषा' एवं 'संस्कृत भाषा' कहते हैं। वैदिक भाषा एवं संस्कृत की अपेक्षा मध्यकालीन भाषाओं का भेद प्रमुखता से निम्न बातों में पाया जाता है–

ध्वनियों में ऋ, ऌ, ऐ और इन स्वरों का अभाव,

ए और ओ की ह्रस्व ध्वनियों का विकास,

श, ष, स् इन तीनों ऊष्मों के स्थान पर किसी एकमात्र का तथा सामान्यतः स का प्रयोग,

विसर्ग का सर्वथा अभाव तथा असवर्णसंयुक्त व्यंजनों को असंयुक्त बनाने अथवा सवर्ण संयोग में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति।

व्याकरण की दृष्टि से

संज्ञा एवं क्रिया के रूपों में द्विवचन का अभाव

पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में अभेद और व्यत्यय

कारकों एवं क्रियारूपों में संकोच,

हलंत रूपों का अभाव,

क्रियाओं में परस्मैपद, आत्मनेपद तथा भवादि, अदादि गणों के भेद का लोप।

ये विशेषताएँ मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा के सामान्य लक्षण हैं और देश की उन लोकभाषाओं में पाए जाते हैं जिनका सुप्रचार उक्त अवधि से कोई दो हजार वर्ष तक रहा और जिनका बहुत-सा साहित्य भी उपलब्ध है।

काल के आधार पर प्राकृत भाषाओं के भेद

उक्त सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त इन भाषाओं में अपने-अपने देश और काल की अपेक्षा नाना भेद पाए जाते हैं। काल की दृष्टि से उनके तीन स्तर माने गए हैं –

प्राक्मध्यकालीन (ई.पू. 600 से ई. सन् 100 तक),
अन्तर मध्यकालीन (ई. सन् 100 से 600 तक), तथा
उत्तर मध्यकालीन (ई.सन् 600 से 1000 तक)।

इन सब युगों की भाषाओं को एक सामान्य नाम प्राकृत दिया गया है। इसके प्रथम स्तर को भाषाओं का स्वरूप अशोक की प्रशस्तियों तथा पालि साहित्य में प्राप्त होता है। द्वितीय स्तर की भाषाओं में मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत भाषाएँ है जिनका विपुल साहित्य उपलब्ध है। तृतीय स्तर की भाषाओं को अपभ्रंश एव अवहट्ठ नाम दिए गए हैं।

देशभेद की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के भेद

देशभेद की दृष्टि से मध्यकालीन भाषाओं के भेद का सर्वप्राचीन परिचय मौर्य सम्राट् अशोक (ई.पू. तृतीय शती) की धर्मलिपियों में प्राप्त होता है। इनमें तीन प्रदेशभेद स्पष्ट हैं–पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पूर्वी भाषा का स्वरूप धौली और जौगढ़ की प्रशस्तियों में दिखाई देता है। इनमें र के स्थान पर ल तथा आकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन की विभक्ति ए सुप्रतिष्ठित है। प्राकृत के वैयाकरणों ने इन प्रवृत्तियों को मागधी प्राकृत के विशेष लक्षणों में गिनाया है। वैयाकरणों के मतानुसार इस मागधी प्राकृत का तीसरा विशेष लक्षण तीनों ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग है। किंतु अशोक के उक्त लेखों में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, क्योंकि यहाँ तीनों ऊष्मों के स्थान पर स् ही प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण अशोक की इस पूर्वी प्राकृत को मागधी न कहकर अर्धमागधी का प्राचीन रूप कहना अधिक उपयुक्त है। पश्चिमी भाषा भेद का प्रतिनिधित्व करने वालों में गिरनार की प्रशस्तियाँ हैं। इनमें र और ल का भेद सुरक्षित है। ऊष्मों के स्थान पर स् का प्रयोग है तथा अकारांत कर्ता कारक एकवचन रूप ओ में अंत होता है। इन प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि यह भाषा शौरसेनी का प्राचीन रूप है। पश्चिमोत्तर की भाषा का रूप शहबाजगढ़ी और मानसेरा की प्रशस्तियों में दिखाई देता है। इनमें प्रायः ‘ , “ , स् ये तीनों ऊष्म वर्ण अपने स्थान पर सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं कुछ व्यत्यय दृष्टिगोचर होता है। रकारयुक्त संयुक्तवर्ण भी दिखाई देते हैं, तथा ज्ञ और न्य के स्थान पर रं, का प्रयोग (जैसे रो ञ) पाया जाता है। ये प्रवृत्तियाँ उस भाषा को पैशाची प्राकृत का पूर्व रूप इंगित करती हैं।

पालि त्रिपिटक का कुछ भाग अवश्य ही अशोक के काल में साहित्यिक रूप धारण कर चुका था क्योंकि उसके लाहुलोवाद, मोने यसुत्त आदि सात

प्रकरणों का उल्लेख उनकी भाब्रु की प्रशस्ति में हुआ है। किंतु उपलब्ध साहित्य की भाषा में अशोक के पूर्वी शिलालेख की भाषा संबंधी विशेषताओं का प्रायः सर्वथा अभाव है। व्यापक रूप से पालि भाषा का स्वरूप गिरनार प्रशस्ति की भाषा से सर्वाधिक मेल खाता है और इसी कारण पालि मूलतः पूर्वदेशीय नहीं, किंतु मध्यदेशीय है। जिस विशेषता के कारण पालि मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम स्तर की गिनी जाती है, द्वितीय की नहीं, वह है उसमें मध्यवर्ती अघोष व्यंजनों के लोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह् के आदेश का अभाव। ये प्रवृत्तियाँ द्वितीय स्तर की भाषाओं के सामान्य लक्षण हैं। हाँ, कहीं कहीं क् त् जैसे अघोष वर्णों के स्थान पर ग् द् आदि सघोष वर्णों का आदेश दिखाई देता है। किंतु यह एक तो अल्पमात्र में ही है और दूसरे वह प्रथम स्तर की उक्त मर्यादा के भीतर अपेक्षाकृत पश्चात्काल की प्रवृत्ति का द्योतक है।

पालि भाषा एवं मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह भाषाविकास जो संस्कृत से माना जाता है वह ठीक नहीं। यथार्थतः वैदिककाल से ही साहित्यिक भाषा के साथ साथ उससे मिलती जुलती लोकभाषा ने देश एवं कालभेदानुसार साहित्यिक प्राकृत भाषाओं का रूप धारण किया है। पालि भी अपनी पूरी विरासत संस्कृत से नहीं ले रही, क्योंकि उसमें अनेक शब्दरूप ऐसे पाए जाते हैं जिसका मेल संस्कृत से नहीं, किंतु वेदों की भाषा से बैठता है। उदाहरणार्थ– पालि एवं अन्य प्राकृतों में तृतीया बहुवचन के देवेभि, देवेहि, जैसे रूप मिलते हैं। अकारांत संज्ञाओं के ऐसे रूपों का संस्कृत में सर्वथा अभाव है, किंतु वैदिक में देवेभि, उतना ही सुप्रचिलित है जितना देवैरू। अतएव उक्त रूप की परंपरा पालि तथा प्राकृतों में वैदिक भाषा से ही उद्भूत मानी जा सकती है। उसी प्रकार पालि में 'यमामसे', 'मासरे', 'कातवे' आदि अनेक रूप ऐसे हैं जिनके प्रत्यय संस्कृत में पाए ही नहीं जाते, किंतु वैदिक भाषा में विद्यमान हैं। पालि के ग्रंथों तथा अशोक की प्रशस्तियों से पूर्व का प्राकृत (लोकभाषाओं) में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है तथा प्राकृत वैयाकरणों ने अपनी सुविधा के लिए संस्कृत को प्रकृति मानकर प्राकृत भाषा का व्याकरणात्मक विश्लेषण किया है और इसीलिए यह भ्रांति उत्पन्न हो गई है कि प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से हुई। पालि के कच्चान, मोग्गल्लान आदि व्याकरणों में यह दोष नहीं पाया जाता, क्योंकि वहाँ भाषा का वर्णन संस्कृत को प्रकृति मानक नहीं किया गया।

पालि भाषा का उद्‌भव

पालि भाषा दीर्घकाल तक राज्य भाषा के रूप में भी गौरवान्वित रही है। भगवान बुद्ध ने पालि भाषा में ही उपदेश दिये थे। अशोक के समय में इसकी बहुत उन्नति हुई। उस समय इसका प्रचार भी विभिन्न बाह्य देशों में हुआ। अशोक के समय सभी लेख पालि भाषा में ही लिखे गए थे। यह कई देशों जैसे श्रीलंका, बर्मा आदि देशों की धर्म भाषा के रूप में सम्मानित हुई।

पाली' भाषा का उद्‌भव गौतम बुद्ध से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही हो चुका था, किन्तु उसके प्रारम्भिक साहित्य का पता नहीं लगता। प्रत्येक भाषा का अपना साहित्य प्रारम्भिक अवस्था में कथा, गीत, पहेली आदि के रूप में रहता है और उसकी रूपरेखा तब तक लोगों को जबानी याद रहती है जब तक कि वह लेखबद्ध हो या ग्रंथारूढ़ न हो जाये। इस काल में पालि भाषा की जैसे उत्पत्ति हुई वैसे ही विकास भी हुआ। प्रारंभ से लेकर लगभग तीन सौ वर्षों तक पालि भाषा जन साधारण के बोलचाल की भाषा रही, किन्तु जिस समय भगवान बुद्ध ने इसे अपने उपदेश के लिए चुना और इसी भाषा में उपदेश देना शुरू किया, तब यह थोड़े ही दिनों में शिक्षित समुदाय की भाषा होने के साथ राजभाषा भी बन गई। 'पालि' शब्द का सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष की अट्‌टकथाओं और उनके विसुद्धिमग्ग में मिलता है। वहाँ यह बात अपने उत्तर कालीन भाषा संबंधी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इसका प्रयोग किया है–(1) बुद्ध-बचन या मूल टिपिटक के अर्थ में (2) पाठ या मूल टिपिटक के पाठ अर्थ में।

'पालि भाषा' से तात्पर्य उस भाषा से लेते हैं जिसमें स्थविरवाद बौद्धधर्म का तिपिटक और उसका संपूर्ण उपजीवी साहित्य रखा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि साहित्य में भी उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व कभी नहीं किया गया। पालि भाषा मूलतः मागधी भाषा ही थी। इसके उदाहरण कच्चायन-व्याकरण में देखने को मिलते हैं। मागधी ही मूल भाषा है, जिसमें प्रथम कल्प के मनुष्य बोलते थे, जो ही अश्रुत वचन वाले शिशुओं की मूल भाषा है और जिसमें ही बुद्ध ने अपने धर्म का, मूल रूप से भाषण किया। इसी प्रकार महावंश के परिवर्द्धित अंश चूल वंश के परिच्छेद 37 की 244 वीं गाथा में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागवाय निरुत्तीया" आदि। निश्चय ही सिंहली परंपरा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज पालि कहते हैं, वह बुद्धकालीन भारत में बोली जाने वाली मागध भाषा ही थी। बुद्ध बचनों की भाषा

को ही सिंहली परंपरा 'मागधी' कहना नहीं चाहती, वह अट्टककथाओं तक की भाषा को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में मागधी कहना ही अधिक पसन्द करती है।

वैसे इसमें विद्वानों के मत अलग-अलग हैं- आचार्य बुद्धघोष ऐसा मानते हैं कि यह भाषा मूलत: मागधी थी। डॉ. रीज देवीड्स का कहना है कि पालि भाषा कोसल की भाषा थी, क्योंकि गौतम बुद्ध कोसल के अंतर्गत शाक्य जनपद के रहने वाले थे। वैस्टरगार्ड एयर ई. कुहन पालि भाषा को उज्जयिनी प्रदेश की भाषा बताते हैं। उनका कहना है कि यदि भाषा की बनावट को देखा जाए और उसकी तुलना अशोक के शिलालेखों से की जाए तो ज्ञात होगा गिनार के लेख की भाषा से पालि मिलती जुलती है।

डॉ. ओल्डनबर्ग और ई. मुलर का मत है कि पालि भाषा का उद्‌गम स्थान कलिंग है। इन दिनों विद्वानों ने कहा है कि कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य होता रहा। कलिंग के ही लोगों ने जाकर लंका को आबाद किया था और खंडगिरि के शिलालेखों में पालि का अधिक साम्य है। इन सभी विद्वानों के मत अलग-अलग हैं। गौतम बुद्ध शाक्य जनपद की राजधानी कपिल वस्तु के रहने वाले थे, जो कोसल के अंतर्गत एक गणतन्त्र था। वहाँ जो भाषा थी उसी में गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश दिये। वैसे गौतम बुद्ध भाषा सम्बन्धी दुराग्रह के विरोधी थे।

उन्होंने जिस भाषा में उपदेश दिया वह भाषा बिहार कि पूर्व सीमा से लेकर करू (दिल्ली दृथानेश्वर) देश तक, मथुरा, उशीरध्वज से लेकर विन्ध्य पर्वतमाला तक लोग समझते थे। गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के एक मास के उपरांत ही उनके उपदेश त्रिपितक के रूप में संग्रहित किए गए थे। अत: इन सारे तथ्यों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पालि भाषा संपूर्ण मध्यदेश की साहित्यक भाषा थी। उस पर कोसल, मगध, काशी, पांचाल, करू, वत्स, सुरसेन, शाक्य, कोलिय, मल्ल, वज्जी, विदेह, अंग आदि जनपदों एवं गणों की प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव था। अत: हम कह सकते हैं कि पालि भाषा मध्यदेश की भाषा थी और मध्यदेश ही उसका उद्‌गम स्थान था, वैसे भी भाषा किसी खास नगर या देश की वस्तु नहीं होती। वह तो समुदाय, जन, एवं देश से अपना संबंध रखती है।

पालि भाषा का साहित्य

पालि साहित्य में मुख्यत: बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। किंतु इसका कोई भाग बुद्ध के जीवनकाल में व्यवस्थित या लिखित रूप धारण कर चुका था, यह कहना कठिन है।

पालि साहित्य की विकासयात्रा

यद्यपि त्रिपिटक में ही कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे बुद्ध के जीवनकाल में ही धर्म के कुछ प्रकरणों के व्यवस्थित पाठ किए जाने का पता चलता है। उदाहरणार्थ, उदान में वर्णन है कि एक बार सीण नामक भिक्षु से स्वयं भगवान ने पूछा कि तुमने धर्म को कैसे समझा? इसके उत्तर में उस भिक्षु ने 16 अष्टक वर्गों को पूरे स्वर के साथ गाकर सुना दिया। इसकी भगवान ने प्रशंसा भी की। विनयपिटक आदि ग्रंथों में बहुश्रुत, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर तथा पंचनेकायिक, भाणक, सुत्तंतिक जैसे विशेषणों का प्रयोग मिलता है, जिनसे स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशों के धारण, पारण की परंपरा उनके जीवनकाल से ही चल पड़ी थी। इस परंपरा के आधार पर बुद्ध के उपदेशों को सुव्यवस्थित साहित्यिक रूप देने के लिए तीन बार संगीतियाँ की जाने के उल्लेख चुल्लवग्ग, दीपवंश, महावंश आदि ग्रंथों में मिलते हैं। प्रथम संगीति बुद्धनिर्वाण के चार मास पश्चात् ही राजगृह में हुई जिनमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया, जिसके करण वह पंचशतिका नाम से भी प्रसिद्ध है। इसकी अध्यक्षता महाकाश्यप ने की और उन्होंने बुद्ध के साक्षात् शिष्य भिक्षु उपालि से विनय संबंधी तथा स्थविर आनंद से सुत्त संबंधी प्रश्न पूछ-पूछकर अन्य भिक्षुओं के अनुमोदन से उक्त विषयों का संग्रह किया। इसी प्रकार की दूसरी संगीति बुद्ध निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली में हुई जिसमें 700 भिक्षु सम्मिलित हुए और इसीलिए वह सप्तशतिका के नाम से विख्यात हुई। इसमें वैशाली के भिक्षुओं के आचरण में अनेक दोष दिखाकर उन्हें विनय के विरुद्ध ठहराया गया और अनुमानतः विनयपिटक में विशेष व्यवस्था लाई गई। बुद्धघोष के मतानुसार तो इसी संगीति द्वारा बुद्ध वचनों का त्रिपिटक, पाँच निकाय, नौ अंग तथा चौरासी हजार धर्मस्कंधों में वर्गीकरण किया गया। तीसरी संगीति बुद्धनिर्वाण के 226 वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई।

इसकी अध्यक्षता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की। यह सम्मेलन नौ मास तक चला और उसमें बुद्धवचनों को अंतिम स्वरूप दिया गया। इसी बीच मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्यु की रचना की जिसमें 18 मिथ्यादृष्टि बौद्ध संश्दायों की मान्यताओं का निराकरण किया। इस रचना को भी अभिधम्मपिटक में सम्मिलित कर लिया गया। इस संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग में नहीं है और न तिब्बती या चीनी महायान संप्रदाय के सहित्य में। अशोक के भाब्रू के लेख, जिसमें सात प्रकरणों के नाम भी उद्धृत हैं, उसमें, अथवा अन्य धर्मलिपियों में ऐसी किसी

संगीति का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इस कारण इसकी ऐतिहासिकता में कीथ, वैलेसर आदि विद्वानों को संदेह है। किंतु रीजडेविड्स, विंटरनित्ज तथा गाइगर आदि विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है। जिस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में प्राचीन उल्लेख एवं आधुनिक विद्वान् एकमत है, वह है वैशाली की द्वितीय संगीति। इन संगीतियों तथा अन्य प्रयत्नों के फलस्वरूप पालि त्रिपिटक का जो स्वरूप प्राप्त हुआ एवं जिस रूप में वह हमें आज उपलब्ध है, वह निम्न प्रकार है–

वर्गीकरण

मूल पालि साहित्य या पिटक

मूल पालि साहित्य तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें पिटक कहा गया है – "विनयपिटक", "सुत्तपिटक" और "अभिधम्मपिटक"। इनमें से प्रत्येक पिटक के भीतर अपने अपने विषय से संबंध रखने वाली अनेक छोटी बड़ी रचनाओं का समावेश है।

पालि के इन तीन पिटकों में ई. पूर्व छठी शती में हुए भगवान बुद्ध के विचारों और उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है। तीनों पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी आ गया है जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, दीर्घ निकाय के समंफल सुत्त, ब्रह्मजाल सुत्त एवं महापरिनिब्बान सुत्त में बुद्ध के समसामयिक धर्मप्रवर्तकों जैसे मंखलिगोसाल, पकुधकच्चायन, अजित केस कंबलि, संजय बलट्ठिपुत्त निगंठनातपुत्त, आदि के आचार-विचारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म संप्रदायों की बौद्ध दृष्टि से आलोचना पाई जाती है और साथ ही उन-उन विषयों पर बौद्ध मान्यता का प्रतिपादन भी पाया जाता है। सामाजिक चित्रण सुत्तपिटक में बिखरा पड़ा है, तथापि खुद्दक निकाय के अंतर्गत जातकों में इसकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

सुत्तों में स्थान-स्थान पर बुद्धकालीन मगध, विदेह, कोशल, काशी आदि 16 जनपदों के राजाओं उनके परस्पर संबंधों एवं लड़ाई-झगड़ों और दाँव-पेंचों के उल्लेख भरे पड़े हैं। सुत्तों के उपदेशों में जिस बौद्ध आचार के संकेत पाए जाते हैं, उन्हीं की भिक्षुओं के योग्य सदाचार के नियमों के रूप में विधि-निषेध-प्रणाली से व्यवस्था विनय पिटक में भी की गई है। इसी प्रकार सुत्तों में जिस तत्त्वचिंतन के बीज सन्निहित हैं, उनका दार्शनिक शब्दावली में सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादन और विवेचन अभिधम्म पिटक में किया गया है। इस परस्पर आनुषंगिकता के कारण बौद्धधर्म का पूरा सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित परिज्ञान बिना त्रिपिटक के अवलोकन के नहीं हो सकता। यह पालि त्रिपिटक विषय की दृष्टि से स्वयं बुद्ध भगवान के उपदेशों पर आधारित है। उपलब्ध ग्रंथ रचना की दृष्टि से ई. पूर्व तृतीय शताब्दी से पश्चात् का सिद्ध नहीं होता। बौद्ध परंपरानुसार अशोक सम्राट् के काल में ही उनके पुत्र महेंद्र स्वयं बौद्ध भिक्षु बनकर इस साहित्य को लंका ले गए और वहाँ प्रथम शती ई. में राजा बट्टगामणी के राज्यकाल में उसे वह लिखित रूप प्राप्त हुआ जिसमें वह आज हमें मिलता है। तथापि उसमें ऐसी कोई बात हमें नहीं मिलती जो बीच की दो तीन शताब्दियों के काल में लंका की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उसमें आई कही जा सके।

विनयपिटक

अपने नामानुसार विनयपिटक का विषय भिक्षुओं के पालने योग्य सदाचार के नियम उपस्थित करना है। इसके तीन अवांतर विभाग हैं—सुत्तविभंग, खंधक और परिवार। खंधक को पुनः दो उपविभाग हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार अपने इन उपविभागों की अपेक्षा विनयपिटक पाँच भागों में विभक्त है।

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक अपने विषय, विस्तार तथा रचना की दृष्टि से त्रिपिटक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें ऐसे सुत्तों का संग्रह किया गया है जो परंपरानुसार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के कहे हुए हैं या उनके साक्षात् शिष्य द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनका अनुमोदन स्वयं भगवान बुद्ध ने किया है। सुत्त का संस्कृत रूपांतर सूत्र किया जाता है। किंतु प्रस्तुत सुत्तों में सूत्र के वे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जो संस्कृत की प्राचीन सूत्ररचनाओं, जैसे वैदिक साहित्य के श्रौत सूत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्र आदि में पाए जाते हैं। सूत्र का विशेष लक्षण है अति संक्षेप में कम से

कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना। उसमें पुनरुक्ति का सर्वथा अभाव अविद्यमान है। किन्तु यहाँ संक्षिप्त शैली के विपरीत सुविस्तृत व्याख्यान तथा मुख्य बातों की बार-बार पुनरावृत्ति की शैली अपनाई गई है। इस कारण सुत्त का सूत्र रूपांतर उचित प्रतीत नहीं होता। विचार करने से अनुमान होता है कि सुत्त का अभिप्राय मूलतः सूक्त से रहा है। वेदों के एक एक प्रकरण को भी सूक्त ही कहा गया है। किसी एक बात के प्रतिपादन को सूक्त कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

सुत्तपिटक के पाँच भाग हैं जिन्हें निकाय कहा गया है–दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। दीर्घनिकाय तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम सीलक्खंधवग्ग में 13 सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में 10 तथा तीसरे पाटिकवग्ग में 11। इस प्रकार दीर्घनिकाय में 34 सुत्त हैं। ये सुत्त अन्य निकायों में संगृहीत सुत्तों की अपेक्षा विस्तार में अधिक लंबे हैं और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है।

मज्झिमनिकाय में मध्यमविस्तार के 152 सुत्त है जो 15 वर्गों में विभक्त हैं -

(1) मूलपरियाय (2) सीहनाद (3) ओपम्म (4) महायमक (5) चूलयमक

(6) गहपति (7) भिक्खू (8) परिव्वाजक (9) राज (10) ब्राह्मण

(11) देवदह (12) अनुपद (13) सुंता (14) विभंग और (15) षडायतन।

इनमें से 14वें वर्ग विभंग में 12 सुत्त हैं और शेष सब में दस-दस।

संयुत्तनिकाय में छोटे बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है। इसमें कुल 56 सुत्त या संयुत्त हैं जो इन पाँच वर्गों में विभाजित हैं -

(1) सगाथ (2) निदान (3) खंध (4) षडायतन और (5) महावग्ग।

अंगुत्तर निकाय की अपनी एक विशेषता है। इसमें सुत्तों का संग्रह एक व्यवस्था के अनुसार किया गया है। आदि में ऐसे सुत्त हैं जिनमें बुद्ध भगवान के एक संख्यात्मक पदार्थो विषयक उपदेशों का संग्रह है, तत्पश्चात् दो पदार्थों विषयक सुत्तों का और फिर तीन, चार आदि। इसी क्रम से इस निकाय के भीतर एककनिपात, दुकनिपात एवं तिक, चतुवक, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक और एकादसक इन नामों के ग्यारह निपातों का संकलन है। ये

निपात पुनः वर्गों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या निपात क्रम से 21, 16, 16, 26, 12, 9, 9, 9, 22 और 3 है। इस प्रकार 11 निपातों में कुल वर्गों की संख्या 169 है। प्रत्येक वर्ग के भीतर अनेक सुत्त हैं जिनकी संख्या एक वर्ग में कम से कम 7 और अधिक से अधिक 262 है। इस प्रकार अंगुत्तर निकाय से सुत्तों की संख्या 2308 है।

खुद्दक निकाय में विषय तथा रचना की दृष्टि से प्रायः सर्वथा स्वतंत्र 15 रचनाओं का समावेश है, जिनके नाम हैं –

(1) खुद्दक पाठ (2) धम्मपद (3) उदान (4) इतिवुत्तक (5) सुत्तनिपात

(6) विमानवत्थु (7) पेतवत्थु (8) थेरगाथा (9) थेरीगाथा (10) जातक

(11) निद्देस (12) पटिसंभिदामग्ग (13) अपादान (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक।

अभिधम्मपिटक

पालि त्रिपिटक के तीसरे भाग अभिधम्मपिटक में भगवान बुद्ध के दर्शनात्मक विचारों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है तथा तात्विक दृष्टि से उनकी सूचियाँ और परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। इस पिटक में निम्न सात ग्रंथों का समावेश है–

(1) धम्मसंगणि (2) विभंग (3) कथावत्थु (4) पुग्गलपंत्ति (5) धातुकथा (6) यमक और (7) पठ्ठान।

धम्मसंगणि उसकी मातिका (विषयसूची) के अनुसार दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 22 तिक हैं जिनमें से प्रत्येक में तीन तीन विषयों का विवेचन किया गया हैं। दूसरे विभाग में 100 दुक हैं और प्रत्येक दुक में विधान ओर निषेध रूप से दो दो विषयों का प्ररूपण किया गया है। ये दुक 12 वर्गों में विभाजित हैं जिनके नाम हैं –

(1) हेतु (2) प्रत्ययादि (3) आश्रव (4) संयोजन (5) ग्रंथ (6) ओध

(7) योग (8) नीवरण (9) परामर्श (10) विस्तृत मध्यम दुक (11) उपादान और (12) क्लेश।

इस प्रकार धम्मसंगणि के तिकों और दुकों की संख्या 122 है। इनमें से प्रथम तिक कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मविषयक हैं, जो सबसे महत्त्वपूर्ण

है और उसके विषय का प्ररूपण (1) चित्तुपपाद (2) रूप (3) निक्क्षेप और (4) अत्थुद्धार इन चार कांडों में किया गया है।

विभंग की विषयवस्तु 18 विभागों में विभाजित है।

कथावत्थु में 23 अध्यायों के भीतर 216 प्रश्नोत्तर हैं जिनमें विरोधी संप्रदायों के सिद्धांतों का खंडन किया गया है।

पुग्गलपण्णत्ति में 10 अध्याय हैं जिनमें क्रमशः एक एक प्रकार के, दो दो प्रकार के आदि बढ़ते क्रम में दसवें अध्याय में 10-10 प्रकार के पुद्गलों अर्थात् व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। व्यक्तियों का विभाजन पृथग्जन, सम्यक् संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य आदि रूप से किया गया है।

धातुकथा की रचना का मूलाधार विभंग है, क्योंकि उसी के प्रथम तीन अर्थात् स्कंध, आयतन और धातु विभंगों का ही यहाँ अधिक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी कारण इस ग्रंथ का दूसरा नाम खंब-आयतन-धातुकथा भी पाया जाता है। ग्रंथ में इन्हीं तीन का संबंध धर्मों के साथ बैठाकर बताया गया है। मातिकानुसार इन धर्मों की संख्या 125 है जो इस प्रकार हैं -

5 स्कंध, 12 आयतन, 18 धातुएँ, 4 सत्य, 22 इंदियाँ, 12 प्रतीत्यसमुत्पाद, 4 स्मृतिप्रस्थान, 4 सम्यक् प्रधान, 4 ऋद्धिपाद, 4 ध्यान, 4 अपरिमाण, 5 इंदियाँ, 5 बल, 7 बोध्यंग, 8 आर्यमार्ग के अंग तथा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त और अधिमोक्ष।

इनका परस्पर संबध प्रश्नोत्तर की शैली से 14 अध्यायों में किया गया है।

यमक में धर्मों का संबंध विशेष विषयों के साथ परस्पर विपरीत रूप में प्रश्नोत्तर शैली से समझाया गया है और इसी युगल प्रश्नात्मक रीति के कारण इस रचना का यमक नाम सार्थक है। जैसे (1) क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं? क्या सभी कुशलमूल कुशलधर्म हैं? इत्यादि। इसी पद्धति से यमक में अभिधम्मपिटक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सुनिश्चित व्याख्या देने का प्रयत्न किया गया है। यह रचना इन 10 यमकों में विभक्त है -

(1) मूल (2) खंघ (3) आयतन (4) धातु, (5) सच्च (6) संसार (7) अनुसय (8) चित्त (9) धम्म और (10) इंदिय।

पट्ठाण में बौद्ध तत्त्वचिंतन के आधारभूत प्रतीत्य-समुत्पाद-सिद्धांत का एक विशेष शैली में बड़े विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ग्रंथ के मुख्य चार भाग हैं -

(1) अनुलोम पट्ठाण (प्रत्यय स्थान), (2) पच्चनिय पट्ठाण

(3) अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठाण और (4) पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठाण।

इन चारों भागों में धम्मसंगणि में निर्दिष्ट 22 तिकों और 100 दुकों का 24 प्रत्ययों से संबंध निम्न छह पट्ठाणों द्वारा समझाया गया है–(1) तिक पं. (2) दुक पं. (3) दुक-तिक पं. (4) तिक-दुक पं. (5) तिक-दिक पं. और (6) दुक-दुक प.। इन छह पट्ठाणों का पूर्ववत् चार विभागों में प्ररूपण होने से संपूर्ण ग्रंथ 24 पट्ठाणों में विभक्त हो जाता है।

अनुपालि या अनुपिटक

उपर्युक्त त्रिपिटक साहित्य का संकलन प्रायः ई.पू. तीसरी शती में पूर्ण हो गया था, किंतु पालि साहित्य का सृजन इसके पश्चात् भी चलता रहा। यद्यपि यह अनुपालि साहित्य विषय की दृष्टि से प्रायः पूर्णतः त्रिपिटक के अंतर्गत ज्ञान का ही अनुकरण करता है, तथापि अपन स्वरूप एवं शैली में समय की गति के अनुसार उसमें विकास दिखाई देता है। ई.पू. प्रथम शती के लगभग नेत्तिप्रकरण नामक ग्रंथ लिखा गया जिसमें अभिधम्मपिटक के विषय का ही कुछ अधिक सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इसमें 16 हार, 5 नय और 18 मूल पदों के द्वारा बौद्ध दर्शन की परिभाषाओं को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके कर्ता का नाम कच्चान है। इसी प्रकार की एक दूसरी रचना इसी काल के लगभग की पेटकोपदेश है जिसमें नेत्तिप्रकरण की ही विषयवस्तु को कुछ दूसरी रीति से उपस्थित किया गया है, जिसमें प्रधानता उन चार आर्य सत्यों की है जो बुद्ध के उपदेशों के मूलाधार हैं। प्रायः इसी काल की तीसरी रचना है - मिलिंद-पंहों जो पालि साहित्य में अपनी विशेषता रखती है व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें साकल (सियालकोट, पंजाब) के नरेश मिलिंद और भिक्षु नागसेन से बीच हुआ वार्तालाप वर्णित है। मिलिंद उस यवन नरेश मिनादर के नाम का ही रूपांतर माना गया है जिसने ई. पू. द्वितीय शती के मध्य में भारत पर आक्रमण किया तथा पंजाब प्रदेश में अपना राज्य जमाया था। प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार यह राजा बड़ा विद्वान् और दार्शनिक विषयों में रुचि रखने वाला था। उसने भिक्षु नागसेन से बड़े पैने दार्शनिक प्रश्न किए, जिसके उत्तर भी नागसेन ने बड़ी चतुराई से सुंदर दृष्टांतों द्वारा उनकी पुष्टि करते हुए दिए हैं। ग्रंथ में सात अध्याय हैं -

(1) बाहिर कथा (2) लक्खणपंहो (3) विमतिछेदन-पंहो (3) मेंडकपंहो

(5) अनुमानपंहो (6) द्युतंग कथा और (7) ओपम्म-कथा-पंहो।

इनमें से प्रथम तीन अध्याय ही ग्रंथ का मूल भाग माना जाता है। शेष चार अध्याय पीछे जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इसके अनेक कारण हैं- एक तो तीसरे अध्याय में ग्रंथ के पुनः प्रारंभ की सूचना है, दूसरे, बुद्धघोष के अवतरण प्रायः तीन ही अध्यायों से लिए गए हैं और तीसरे इस ग्रंथ का जो चीनी अनुवाद 400 ई. के लगभग किया गया था, उसमें केवल ये तीन ही अध्याय पाए जाते हैं। यह रचना शैली में बड़ी रोचक तथा बौद्ध सिद्धांत के ज्ञान के लिए अपने ढंग की अद्वितीय है।

अट्ठकथाएँ

इन रचनाओं के पश्चात् अट्ठकथाओं का युग प्रारंभ होता है। श्रुत परंपरानुसार जब महेंद्र और संघमित्र द्वारा पालि त्रिपिटक लंका में पहुँचा और बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ा, उन मूल ग्रंथों पर सिंहली भाषा में टीका रूप अट्ठकथाएँ लिखी गई। ये अट्ठकथाएँ अब उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः इसका कारण उन अट्ठकथाओं की रचना हो जाने से क्रमशः उन मूल अट्ठकथाओं का अध्ययन अध्यापन छूट जाना ही है। इन नई पालि अट्ठकथाओं के कर्ता आचार्य बुद्धघोष का नाम पालि साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने जिन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है तथा जिनके अवतरण अपनी अट्ठकथाओं में लिए हैं, उनमें मुख्य हैं-

(1) महाअट्ठकथा (सुत्तपिटक पर), (2) महापच्चरी (अभिधम्म पर), (3) कुरुंदी (विनयपिटक पर),

(4) अंधट्ठकथा, (5) संक्षेप-अट्ठकथा और (6) समानट्ठकथा।

अंतिम चार अट्ठकथाएँ निकायों अथवा उनके किन्हीं विषयों के विशेष व्याख्यान के रूप में प्रतीत होते हैं। इन मूल अट्ठकथाओं के अभाव में यह कहना तो कठिन है कि कितने अंश में बुद्धघोष ने उनका अनुकरण किया और कितना मौलिक रूप से किया, तथापि उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल अट्ठकथाओं को अपने त्रिपिटक के विशाल ज्ञान द्वारा बहुत ही पल्लवित किया होगा। उनकी अट्ठकथाएँ विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक के अधिकांश भागों पर मिलती हैं, जिनकी संख्या 16 है। इन अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धघोष की एक विशिष्ट रचना है विसुद्धिमग्ग, जिसे बौद्ध दर्शन का ज्ञानकोश कहा जा सकता है। अट्ठकथाओं में स्वयं बुद्धघोष के

कथनानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग में दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर इन चारों निकायों का सार भर दिया है। श्रुत परंपरानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग को अपनी अट्ठकथाओं से पूर्व उनकी रचना को अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए ही लिखा था। इस ग्रंथ में कुल 23 परिच्छेद हैं। प्रथम दो परिच्छेदों का विषय है "समाधि" और शेष परिच्छेदों में "प्रज्ञा" का व्याख्यान किया गया है।

बुद्धघोष के पश्चात् अट्ठकथाओं की परंपरा को उनके प्रायः समसामयिक दो आचार्यों बुद्धदत्त और धम्मपाल ने परिपुष्ट किया। बुद्धदत्त ने बुद्धघोष कृत समंतपासादिका नामक विनयपिटक की अट्ठकथा का सार अपनी उत्तरविनिश्चय और विनयविनिश्चय नामक दो पद्यात्मक रचनाओं में उपस्थित किया तथा बुद्धघोष की अभिधम्म की अट्ठकथाओं के आधार पर अभिधम्मावतार नामक गद्य-पद्य-मिश्रित ग्रंथ की रचना की। इसमें मौलिकता यह है कि जहाँ बुद्धघोष ने रूप, वेदनादि पाँच स्कंधों के द्वारा धर्मों का विवेचन किया है, वहाँ बुद्धदत्त ने चित्तर, चेतसिक, रूप और निर्वाण इस चार प्रकार के वर्गीकरण को अपनाया है। इसी वर्गीकरण को उन्होंने अपनी रूपारूप विभाग नामक रचना में रखा है। बुद्धदत्त की एक और रचना है मधुरत्थ विलासिनी, जो बुद्धवंस की अट्ठकथा है। धम्मपाल ने सात अट्ठकथाएँ लिखी हैं। खुद्दकनिकाय के अंतर्गत जिन उदान, इतिषुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एव चरियापिटक नामक ग्रंथों पर बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, उनपर धम्मपाल ने परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा लिखी है। इसी प्रकार नेत्तिप्रकरण पर अत्थसंवण्णणा और उसी पर लीनत्थवण्णणा नामक टीका, विसुद्धिमग्ग पर परमत्थमंजूषा, बुद्धघोष की चार निकायों की अट्ठकथाओं पर लीनत्थपकासिनी नामक टीका, जातकट्ठकथा की टीका तथा बुद्धदत्त कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका लिखी। इन सब रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है उनकी विसुद्धिमग्ग की टीका। शेष रचनाओं में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यद्यपि उक्त त्रिपिटक व उनकी अट्ठकथाओं की रचना के पश्चात् नहीं है। यद्यपि उक्त त्रिपिटक व उनकी अट्ठकथाओं की रचना के पश्चात् बुद्धवचन के संबंध में अधिक कुछ कहना शेष नहीं रहा, तथापि इस अट्ठकथा नामक टीका साहित्य की रचना बुद्धघोष युग (ई. 400 से 1100 तक) में बराबर होती रही। इनमें से कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं–

आनंदकृत अभिधम्म मूल टीका, चुल्लधम्मपाल कृत 'सच्च संक्षेप' (सत्य संक्षेप), उपसेन कृत सद्धम्मप्पजोतिक (निद्देस की टीका) महानाम कृत सद्षम्मप्पकासिनी (पटिसंभिदामग्ग की टीका), कस्सप कृत माहविच्छेदनी और

विमतिच्छेदनी, वज्रबुद्धि कृत संमतवपासादिका की टीका, क्षेम कृत खेमप्पकरण, अनिरुद्ध कृत अभिधम्मत्थसंगहो परमत्थविनिश्चय और नामरूपपरिच्छेद, धर्मश्री कृत खुद्दकसिक्खा (विलय संबंधी अट्ठकथा) और महास्वामी कृत मूलसिक्खा।

12वीं शती से अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में ही टीकाओं की रचना प्रारंभ हुई। इस कार्य की सुव्यवस्था के लिए लंका नरेश पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1153-86) के काल में सिंहली स्थविर महाकस्सप द्वारा एक संगीति की गई, जिसके फलस्वरूप समंतपासादिका आदि अट्ठकथाओं पर दीपानी, मंजूसा, पकासिनी आदि नामों से आठ टीकाएँ लिखी गई, जिनमें से अब केवल विनयपिटक की समंतपासादिका अट्ठकथा पर लिखी गई सारत्थदीपनी टीका मात्र मिलती है। इसके कर्ता सारिपुत्त की तीन अन्य टीकाएँ भी मिलती हैं-

(1) लीनत्थपकासिनी- मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा पर,

(2) विनयसंग्रह और

(3) सारत्थमंजूसा- अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा पर।

सुमंगल, सद्धम्मजोतिपाल, धम्मकीर्ति, बुद्धरविखत और मेघंकर - इन सभी ने भिन्न-भिन्न अट्ठकथाओं पर टीकाएँ लिखी हैं। इनमें अकेले वाचिस्सर थेर के मूल सिक्खा टीका आदि दस टीका ग्रंथ मिलते हैं। 13वीं शती में स्थविर विदेह, बुद्धप्रिय और धर्मकीर्ति द्वारा समंतकूटवण्णणा आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई। 14वीं शती की रचनाओं में चार काव्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं-

(1) मेधंकर कृत लाकप्पदीपसार (2) पंचगतिदीपन (3) सद्धम्मोपायन और (4) तेलकटाह गाथा।

बाद की तीन रचनाओं के कर्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

14वीं शती के पश्चात् पालि-साहित्य-सृजन का क्षेत्र लंका से उठकर ब्रह्मदेश में पहुँच गया। यहाँ के साहित्यकारों ने अभिधम्म को विशेष रूप से अध्ययन का विषय बनाया। 15वीं शती की कुछ रचनाएँ हैं-

अरियवंस कृत मणिसारमंजूसा,

मणिदीप और जातक विबोधन,

सद्धम्मसिरि कृत नेत्तिभावनी,

सीलवंस कृत बुद्धालंकार तथा

रट्ठसारकृत जातकों के काव्यात्मक रूपांतर।

16वीं शती में सद्धम्मालंकार ने पट्ठाण प्रकरण पर पट्ठाणदीपनी नामक टीका लिखी तथा महानाम से आनंदकृत अभिधम्म-मूल-टीका पर मधुसारत्थ

दीपनी नामक अनुटीका लिखी। 17वीं शती में त्रिपिटकालंकार ने अट्ठसालिनी पर की बीस गाथाओं में वीसतिवण्णणा, सारिपुत्तकृत विनयसंग्रह पर विनयालंकार नामक टीका तथा यसवड्ढनवत्थु इन तीन ग्रंथों की रचना की। त्रिलोकगुरु ने चार ग्रंथ रचे-

(1) धातुकथा-टीका-वण्णणा
(2) धातुकथा-अनंटीका-वण्णणा
(3) यमकवण्णणा और
(4) पट्ठाणवण्णणा।

सारदस्सी कृत धातुकथायोजना और महाकस्सप कृत अभिधम्मत्थगंठिपद (अभिधर्म के कठिन शब्दों की व्याख्या) इस शती की अन्य दो रचनाएँ हैं।

18वीं शती की ज्ञानामिवंशनामक ब्रह्मदेस के संघराज की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं-

(1) पेटकालंकार-नेत्ति-प्रकरण की टीका,
(2) साधुविलासिनी दीर्घनिकाय की कुछ व्याख्या और
(3) राज-धिराजविलासिनी नामक काव्य।

19वीं शती की ब्रह्मदेश की कुछ रचनाएँ हैं- नलाटधातु वंस, संदेस कथा सीमाविवादविनिश्चय आदि। इस शती के छकेसधातुवंस, गंधवंस और सासनवंस नामक रचनाओं का परिचय वंस साहित्य के अंतर्गत दिया गया है। इस शती की अन्य उल्लेखनीय रचना है भिक्षु लेदिसदाव कृत अभिधम्मसंग्रह की परपत्थदीपनी टीका तथा यमक संबंधी पालि निबंध जो उन्होंने श्रीमती राइस डेविड्ज की कुछ शंकाओं के समाधान के लिए लिखा था।

पालि-साहित्य-रचना की अविच्छिन्न धारा के प्रमाणस्वरूप 20वीं शती की दो रचनाओं का उल्लेख करना अनुचित न होगा। ये हैं भारतवर्ष में भंदत धर्मानंद कोसांबी द्वारा रचित विसुद्धिमग्गदीपिका और अभिधम्मत्थसंग्रह की नवनीत टीका। इस परिचय के आधार से कहा जा सकता है कि पालिसाहित्य-निर्माण की धारा ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी अभी तक विच्छिन्न नहीं हुई।

वंश साहित्य

दीपवंश

लंका में जिस समय त्रिपिटक पर अट्ठकथाओं की रचना की जा रही थी, उसी समय दूसरी ओर कुछ ग्रंथकारों में ऐतिहासिक रुचि जाग्रत हुई जिसके

परिणामस्वरूप दीपवंश की रचना की गई। इन ग्रंथों में लंका का इतिहास, प्राचीनतम काल से लेकर राजा महासेन के राज्यकाल (ई. 325-352) तक, वर्णन किया गया है। इस रचना का उपयोग बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में प्रचुरता से किया है और कहीं-कहीं उसके अवतरण भी दिए हैं। इस प्रकार दीपवंस का रचनाकाल ई. चौथी पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है। सिंहल के राजाओं के साथ-साथ यहाँ बुद्ध के जीवन, उनके शिष्यों की परंपरा एवं तीनों संगीतियों आदि का विवरण कुछ बढ़ा चढ़ाकर किया गया है। अनुमानतः इसके विषय का आधार उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथाएँ रही हैं। यह रचना पालि-गद्य-मिश्रित है, शैली बहुत कुछ शिथिल है, पुनरुक्तियाँ भी बहुत हैं और रचना भाषा, छंद आदि के दोषों से मुक्त नहीं है। ये लक्षण उसकी प्राचीनता के द्योतक हैं और इस बात के प्रमाण हैं कि उसमें विषयवस्तु अनेक स्रोतों से संकलित की गई है तथा उसमें संपादकीय व्यवस्था लाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से लंका में आदि से ही इसका बड़ा आदर रहा है। कहा जाता है कि ई. 5वीं शती में ही सिंहल राजा धातुसेन ने एक वार्षिकोत्सव के अवसर पर राष्ट्रीय गौरव के साथ इसका पाठ कराया। भारतीय ऐतिहासिक रचनाओ में दीपवंस निःसदेह एक प्राचीनतम रचना है।

महावंश

दीपवंश की रचना से कुछ काल पश्चात् महानाम के द्वारा महावंश की रचना हुई। इसका मूलाधार भी वे ही सिंहल की अट्ठकथाएँ तथा दीपवंश है। यहाँ विषय का प्रतिपादन दीपवंश की अपेक्षा अधिक विशद और व्यवस्थित है। भाषा भी अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित और शैली तो कहीं कहीं महाकाव्यों की पद्धति का स्मरण कराती है। महावंश का मूल भाग 37 परिच्छेदों का है और वह दीपवंश के समान महासेन के शासनकाल पर समाप्त होता है। प्रारंभ के परिच्छेदों में, जो लंका में बौद्धधर्म के आगमन से पूर्व देश की धार्मिक परिस्थितियों के उल्लेख आए हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, पांड्डकामय नरेश का राज्यकाल महेंद्र द्वारा लंका में बौद्धधर्म के प्रवेश से 60 वर्ष पूर्व तक रहा कहा गया है। इस राजा ने 70 वर्ष राज्य किया तथा राज्य के 10वें वर्ष में ही अनुराधापुर नगर की स्थापना की। इससे आगे इस रचना में समय-समय पर परिवर्धन किया गया है। 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा से आगे 79वें परिच्छेद तक की रचना स्थविर धर्मकीर्ति कृत है और उसमें महासेन के

काल से लेकर पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1240-75) तक 78 राजाओं की वंशपरंपरा दी गई है। महावंश का यह तथा इससे आगे के परिच्छेद चूलवंश कहलाता है। चूलवंश 80 से 90 तक के 11 परिच्छेदों के रचयिता बुद्धरक्षित भिक्षु ने आगामी 23 राजाओं का वर्णन किया जो पराक्रमबाहु चतुर्थ तक आया। 91 से 100 तक के 10 परिच्छेद सुमंगल थेर द्वारा रचे गए और उनमें भुवनेकबाहु तृतीय से लेकर कीर्तिश्री राजसिंह के काल (लग. ई. 1785) तक के 24 राजाओं का वर्णन किया। यहाँ लंका में ईसाई धर्म के प्रचार की भी सूचना मिलती है। अगला 101वाँ परिच्छेद सुमंगलाचार्य तथा देवरक्षित द्वारा रचा गया। तत्पश्चात् वहाँ का राज्य अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। महावंश का अंतिम परिवधर्न भिक्षु प्रज्ञानंद नायक द्वारा 1936 में प्रकाशित हुआ और इसमें 1815 से 1935 ई. तक का लंका का इतिहास समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार महावंश की रचना में छह ग्रंथकारों का हाथ है जिनके द्वारा इसमें भगवान बुद्ध से लेकर लगभग ढाई हजार वर्षों का लंका का इतिहास अविच्छिन्न रूप से अंकित किया गया है। यह ग्रंथ इस बात का भी प्रतीक है कि उक्त दीर्घ काल तक लंका में पालि भाषा को किस प्रकार जीवित रखा गया और उसमें साहित्यिक रचना की धारा को कभी सूखने नहीं दिया गया।

अन्य वंश ग्रन्थ

दीपवंश और महावंश रचनाओं ने तीव्र ऐतिहासिक वृत्ति जाग्रत की। परिणामत: अनेक अन्य वंश नामक ग्रंथ रचे गए। इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो प्राय: उक्त दोनों ग्रंथों से ही लिए गए हैं, किंतु उनमें जो नाना विषयों की श्रुतिपरंपरा को एकत्र कर दिया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। इनमें विषय को महत्त्व देने के लिए बहुत कुछ अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है, जिसके कारण कहीं कहीं इतिहासज्ञ को उद्वेग या अश्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार की मुख्य रचनाएँ ये हैं -

(1) महाबोधिवंस भिक्षु उपतिस्स द्वारा गद्य में 11वीं शती में लिखा गया, इसमें बोधिवृक्ष का इतिहास दिया गया है और उसके साथ बुद्धधर्म एवं उसकी संगीतियों, महेंद्र के लंकागमन और वहाँ चैत्यनिर्माण आदि का भी विवरण है।

(2) 13वीं शती में भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने गद्य में थूपवंस की रचना की, जिसमें बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का इतिहास दिया

गया है। ग्रंथकार के मतानुसार तथागत, प्रत्येक बुद्ध, तथागत के शिष्य एवं चक्रवर्ती राजाओं के अवशेष जिन चैत्यों में रखे जाते हैं, वे स्तूप कहलाते हैं। बुद्ध के अवशेष आदि राजगृह, वैशाली आदि आठ स्थानों में रखे गए। किंतु मगधराज अजातशत्रु ने उन सबको एकत्र कर राजगृह के महास्तूप में ही रखा। अशोक ने इनका पुनः विभाजन कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर 84 हजार स्तूप बनवाए। लंका में देवानापिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने तथा उनकी भतीजी अनुलादेवी की प्रव्रज्या संघमित्र के हाथों संपन्न हो जाने पर संपूर्ण लंका द्वीप में एक एक योजन के अंतर पर स्तूप बनवाए गए, इत्यादि।

(3) दाठावंस 13वीं शती में सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति द्वारा पद्य में रचा गया। यह रचना पांडित्यपूर्ण है। इसमें विषय का विस्तार प्रायः थूपवंश के ही समान है, केवल यहाँ बौद्ध धर्म का इतिहास भगवान बुद्ध के दाँत के साथ गूँथा गया है।

(4) हत्थवनगल्ल विहारवंस भी 13वीं शती की गद्यपद्यात्मक रचना है, जिसके 11 अध्यायों में से प्रथम आठ में लंका नरेश श्री संबोधि का वर्णन है एवं अंतिम तीन अध्यायों में उनके द्वारा निर्मापित विहारों का जिनमें से एक अति सुप्रसिद्ध अत्तनगलु विहार या हत्थवनगलु विहार भी था।

(5) 14वीं शती में महामंगल भिक्षु द्वारा बुद्धधोसुप्पत्ति के नाम से बुद्धघोष का जीवनचरित् लिखा गया। इसका तथ्यात्मक अंश उतना ही है जितना महावंश आदि में पाया जाता है। बुद्धघोष के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा, दीक्षा आदि विषयक वर्णन प्रायः कल्पित हैं।

(6) 14वीं शती की एक अन्य रचना सद्धम्मसंगह है, जिसके कर्ता महास्वामी धर्मकीर्ति हैं। इसमें आदि से लेकर 13वीं शती तक के बौद्धधर्म एवं भिक्षुसंघ का इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। कर्ता ने त्रिपिटक के ग्रंथों के उल्लेख भी दिए हैं। कब, किन देश प्रदेश में धर्मप्रचार के लिए भिक्षु भेजे गए इसका यहाँ विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ग्रंथ में कुल 40 गद्यपद्यात्मक अध्याय हैं। नौवें अध्याय में बहुत से ग्रंथों और ग्रंथकारों के भी उल्लेख आए हैं। 14वीं शती के पश्चात् लंका में इस प्रकार की कोई विशेष ग्रंथरचना नहीं पाई जाती। किंतु इस प्रणाली के तीन ग्रंथ 19वीं शती में ब्रह्मदेश में लिखे गए मिलते हैं। किसी एक भिक्षु ने गद्य-पद्य-मिश्रित सरल शैली में भगवान बुद्ध के छह केशों के ऊपर निर्माण कराए गए स्तूपों

का वर्णन छकेस धातुवंस नामक ग्रंथ में किया है। इस शती की विशेष महत्त्वपूर्ण रचना है।

(7) गंधवंस (ग्रंथवंश), जिसमें महाकच्चान से लेकर नागिताचार्य तक के 56 ग्रंथकारों तथा उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त कोई 30 ग्रंथ ऐसे भी उल्लखित हैं जिनके कर्ताओं के नाम नहीं दिए गए। यह ग्रंथ बड़ी सावधानी से लिखा गया प्रतीत होता है। 19वीं शती की एक और रचना है

(8) शासनवंश, जिसे कर्ता भिक्षु प्रज्ञास्वामी हैं। यहाँ बुद्धकाल से लेकर 19वीं शती तक के स्थविरवादी बौद्धधर्म का इतिहास 10 अध्यायों में दिया गया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है।

उक्त ग्रंथों में अधिकांश भाग प्राचीन त्रिपिटक, उनकी अट्ठकथाओं तथा महावंश के अंतर्गत वार्ता की संक्षेप या विस्तार से पुनरावृत्ति मात्र है। किंतु फिर भी उनमें अपने अपने विषय की कुछ मौलिकता भी है जिसके आधार से हमें उक्त विषयों का कुछ इतिहास बुद्धकाल से लगाकर अब तक का अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होता है। यह पालि साहित्य की अपनी विशेषता है जो संस्कृत प्राकृत में नहीं पाई जाती।

पालि के शास्त्रीय ग्रन्थ

पालि में समय-समय पर शास्त्रीय ग्रंथ भी रचे गए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चान और मोग्गल्लान कृत, व्याकरण एवं उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। सन् 1154 ई. में ब्रह्मदेश के भिक्षु अग्गवंस कृत सद्दनीति, कच्चान के व्याकरण पर आधारित पालि भाषा का व्याकरण है। इसके तीन भाग हैं- पदमाला, धातुमाला और सुत्तमाला। इसी पर आधारित जिनरत्न भिक्षु कृत धात्वर्थदीपनी नामक पद्यबद्ध धातुसूची है। पालि व्याकरण विषयक अन्य कुछ रचनाएँ हैं- सद्धम्मगुरु कृत सद्दबुत्ति, मंगलकृत गंधट्ठी और सामनेर धम्मदस्सी कृत वच्चवाचक (14वीं शती), अरियवंश कृत गंधाभरण (15वीं शती), ब्रह्मदेश के नरेश क्यच्चा की पुत्री कृत विभक्त्यर्थप्रकरण (15वीं शती), जंबूध्वज कृत संवण्णणानय-दीपना और निरुत्तिसंगह (17वीं शती), राजगुरु कृत कारकपुप्फमंजरी (18वीं शती)।

पालि के "अभिधानप्पदीपिका" और "एकक्खर कोश" ये कोश ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं।

पालि छंद–शास्त्र पर भी अनेक रचनाएँ हैं, जैसे वृत्तोदय, छंदोविचिति और कविभारप्रकरण आदि। इनमें थर संघरविखत कृत (12वीं शती) वृत्तोदय ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस पर वचनत्वजोतिका नामक टीका भी लिखी गई। इन्हीं संघरविखत कृत पालि काव्यशास्त्र पर भी एकमात्र रचना है–सुबोधालंकार।

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक बौद्ध धर्म का एक ग्रंथ है। यह ग्रंथ त्रिपिटक के तीन भागों में से एक है। सुत्त पिटक में तर्क और संवादों के रूप में भगवान बुद्ध के सिद्धांतों का संग्रह है। इनमें गद्य संवाद हैं, मुक्तक छन्द हैं तथा छोटी-छोटी प्राचीन कहानियाँ हैं। यह पाँच निकायों या संग्रहों में विभक्त है।।

परिचय

इस पिटक के पाँच भाग हैं जो निकाय कहलाते हैं। निकाय का अर्थ है समूह। इन पाँच भागों में छोटे बड़े सुत्त संगृहीत हैं। इसीलिए वे निकाय कहलाते हैं। निकाय के लिए "संगीति" शब्द का भी प्रयोग हुआ है। आरम्भ में, जब कि त्रिपिटक लिपिबद्ध नहीं था, भिक्षु एक साथ सुत्तों का पारायण करते थे। तदनुसार उनके पाँच संग्रह संगीति कहलाने लगे। बाद में निकाय शब्द का अधिक प्रचलन हुआ और संगीति शब्द का बहुत कम।

कई सुत्तों का एक बग्ग (वर्ग) होता है। एक ही सुत्त के कई भाण भी होते हैं। 8000 अक्षरों का भाणवार होता है। तदनुसार एक-एक निकाय की अक्षर संख्या का भी निर्धारण हो सकता है। उदाहरण के लिए दीर्घनिकाय के 34 सुत्त हैं और भाणवार 64। इस प्रकार सारे दीर्घनिकाय में 512000 अक्षर हैं।

सुत्तों में भगवान तथा सारिपुत्र मौद्गल्यायन, आनंद जैसे उसे कतिपय शिष्यों के उपदेश संगृहीत हैं। शिष्यों के उपदेश भी भगवान द्वारा अनुमोदित हैं।

प्रत्येक सुत्त की एक भूमिका है, जिसका बड़ा ऐतिहासिक मत है। उसमें इन मतों का उल्लेख है कि कब, किस स्थान पर, किस व्यक्ति या किन व्यक्तियों को वह उपदेश दिया गया था और श्रोताओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

अधिकतर सुत्त गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ गद्य-पद्य दोनों में। एक ही उपदेश कई सुत्तों में आया है–कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में। उनमें पुनरुक्तियों की बहुलता है। उनके संक्षिप्तीकरण के लिए "पय्याल" का प्रयोग किया गया है। कुछ परिप्रश्नात्मक है। उनमें कहीं-कहीं आख्यानों और ऐतिहासिक

घटनाओं का भी प्रयोग किया गया है। सुत्तपिटक उपमाओं का भी बहुत बड़ा भंडार है। कभी-कभी भगवान उपमाओं के सहारे भी उपदेश देते थे। श्रोताओं में राजा से लेकर रंक तक, भोले-भाले किसान से लेकर महान दार्शनिक तक थे। उन सबके अनुरूप ये उपमाएँ जीवन के अनेक क्षेत्रों सी ली गई हैं।

बुद्ध जीवनी, धर्म, दर्शन, इतिहास आदि सभी दृष्टियों से सुत्तपिटक त्रिपिटक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। बुद्धगया के बोधिगम्य के नीचे बुद्धत्व की प्राप्ति से लेकर कुशीनगर में महापरिनिर्वाण तक 45 वर्ष भगवान बुद्ध ने जो लोकसेवा की, उसका विवरण सुत्तपिटक में मिलता है। मध्य मंडल में किन-किन महाजनपदों में उन्होंने चारिका की, लोगों में कैसे मिले-जुले, उनकी छोटी-छोटी समस्याओं से लेकर बड़ी-बड़ी समस्याओं तक के समाधान में उन्होंने कैसे पथ-प्रदर्शन किया, अपने संदेश के प्रचार में उन्हें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा- इन सब बातों का वर्णन हमें सुत्तपिटक में मिलता है। भगवान बुद्ध के जीवन संबंधी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन ही नहीं, अपितु उनके महान शिष्यों की जीवन झाँकियाँ भी इसमें मिलती हैं।

सुत्तपिटक का सबसे बड़ा महत्त्व भगवान द्वारा उपदिष्ट साधनों पद्धति में है। वह शील, समाधि और प्रज्ञा रूपी तीन शिक्षाओं में निहित है। श्रोताओं में बुद्धि, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अनेक स्तरों के लोग थे। उन सभी के अनुरूप अनेक प्रकार से उन्होंने आर्य मार्ग का उपदेश दिया था, जिसमें पंचशील से लेकर दस पारमिताएँ तक शामिल हैं। मुख्य धर्म पर्याय इस प्रकार हैं- चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, सात बोध्यांग, चार सम्यक् प्रधान पाँच इंदिय, प्रतीत्य समुत्पाद, स्कंध आयतन धातु रूपी संस्कृत धर्म नित्य दु:ख-अनात्म-रूपी संस्कृत लक्षण। इनमें भी सैंतिस क्षीय धर्म ही भगवान के उपदेशों का सार है। इसका संकेत उन्होंने महापरिनिर्वाण सुत्त में लिखा है। यदि हम भगवान के महत्त्वपूर्ण उपदेशों की दृष्टि से सुत्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें उनमें घुमा फिराकर ये ही धर्मपर्याय मिलेंगे। अंतर इतना ही है कि कहीं ये संक्षेप में हैं और कहीं विस्तार में हैं। उदाहरणार्थ सुत्त निकाय के प्रारंभिक सुत्तों में चार सत्यों का उल्लेख मात्र मिलता है, धम्मचक्कपवत्तन सुत्त में विस्तृत विवरण मिलता है और महासतिपट्ठान में इनकी विशद व्याख्या भी मिलती है।

सुत्तों की मुख्य विषयवस्तु तथागत का धर्म और दर्शन ही है। लेकिन प्रकारांतर से और विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। जटिल, परिव्राजक, आजीवक और निगंठ जैसे जो अन्य श्रमण और ब्राह्मण संप्रदाय उस समय प्रचलित थे,

उनके मतवादों का भी वर्णन सुत्तों में आया है। वे संख्या में 62 बताए गए हैं। यज्ञ और जातिवाद पर भी कई सुत्तंत हैं।

भारत मगध, कोशल, वज्जि जैसे कई राज्यों में विभाजित था। उनमें कहीं राजसत्तात्मक शासन था तो कहीं गणतंत्रात्मक राज्य। उनका आपस का संबंध कैसा था, शासन प्रशासन कार्य कैसे होते थे- इन बातों का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। साधारण लोगों की अवस्था, उनका रहन-सहन, आचार-विचार, भोजन छादन, उद्योग-धंधा, शिक्षा-दीक्षा, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, मनोरंजन, खेलकूद आदि बातों का भी वर्णन आया है। ग्राम, निगम, राजधानी, जनपद, नदी, पर्वत, वन, तड़ाग, मार्ग, ऋतु आदि भौगोलिक बातों की भी चर्चा कम नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुत्तपिटक का महत्त्व न केवल धर्म और दर्शन की दृष्टि से है, अपितु बुद्धकालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक और भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से भी है। इन सुत्तों में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके विद्वानों ने निबंध लिखकर अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

सुत्तपिटक के पाँच निकाय इस प्रकार हैं– दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय। सर्वास्तिवादियों के सूत्रपिटक में भी पाँच निकाय रहे हैं, जो 'आगम' कहलाते थे (एकोत्तर आगम, देखें)। उनके मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। सभी ग्रन्थों का चीनी अनुवाद और कुछ का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। उनके नाम इस प्रकार हैं– दीर्घागम, मध्यमागम, संयुक्तागम, एकोत्तरागम और क्षुदकागम। मुख्य बातों पर निकायों और आगामों में समानता है। इस विषय पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है।

विभाजन

इसका विस्तार इस प्रकार है–

दीघनिकाय (दीघ = दीर्घ = लम्बाय भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्चित लम्बे सूत्रों का संकलन)

मज्झिमनिकाय (मज्झिम = मध्यमय भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्चित मध्यम सूत्रों का संकलन)

संयुत्तनिकाय (संयुत्त = संयुक्तय भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्चित लम्बे, छोटे सूत्रों का संयुक्त संकलन)

अंगुत्तरनिकाय (अंगुत्तर = अंकोत्तर = अंक अनुसारय धर्म को अंक अनुसार संग्रहित ग्रंथ)

खुद्दकनिकाय (खुद्दक = क्षुद्र्क = छोटा, भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्चित छोटे सूत्रों का संकलन)

खुद्दक पाठ
धम्मपद
उदान
इतिवुत्तक
सुत्तनिपात
विमानवत्थु
पेतवत्थु
थेरगाथा
थेरीगाथा
जातक
निद्देस
पटिसंभिदामग्ग
अपदान
बुद्धवंस
चरियापिटक

विनयपिटक

विनय पिटक एक बौद्ध ग्रंथ है। यह उन तीन ग्रंथों में से एक है जो त्रिपिटक बनाते हैं। इस ग्रंथ का प्रमुख विषय विहार के भिक्षु, भिक्षुणी आदि हैं। विनय पिटक का शाब्दिक अर्थ "अनुशासन की टोकरी" है। बौद्ध धर्म में भिक्षु और भिक्षुणी के रूप में प्रवेश करने वाले शिष्य (अनुयायी) के आचरण व्यवस्थित करने के निमित्त निर्मित अनुशासन के नियमों को विनय कहते है। अत: विनय पिटक विनय से संबन्धित नियमों का व्यवस्थित संग्रह है।

जीवित संस्करण

विनय पित्तक का 6 संस्करण पूर्ण रूप से संरक्षित है। इन में से 3 अभी भी धार्मिक कार्य के लिए प्रयोजित हैं।

थेरवाद संप्रदाय का पालि संस्करण

सुत्तविभंग

महाविभंग (भिक्षु संबंधित)

भिख्खुणीविभंग (भिक्षुणी संबंधित)

खंधक

परिवार

श्डुल-बा, जो मूलसर्वास्तिवाद का तिब्बती अनुवाद है। तह तिब्बती अनुयायियों द्वारा प्रयोजित संस्करण है

विनयवस्तु

भिक्षुओं का प्रतिमोक्षसुत्र

भिक्षुओं का विनयविभंग

भिक्षुणीओं का प्रतिमोक्षसुत्र

भिक्षुणीओं का विनयविभंग

विनयक्षुदवस्तु

विनयोत्तरग्रंथ

सु-फेन लु (ताइशो कॅटालॉग क्रम 1428), धर्मगुप्तक संस्करण का चिनिया अनुवाद, यह संस्करण चिनिया सम्प्रदाय और उससे निकला संप्रदाय जैसे कि कोरियाली, भियतनामी और जापान के रित्सु संप्रदाय प्रयोग करते हैं।

भिक्षुविभंग

भिक्षुणीविभंग

स्कंधक

संयुक्तवर्ग

विनयैकोत्तर

शि-सुंग लु (T1435), सर्वास्तिवाद संस्करण का अनुवाद

भिक्षुविभंग

स्कंधक

भिक्षुणीविभंग

एकोत्तरधर्म

उपालिपरिप्रिच्चा

उभयतोविनय

संयुक्त

पराजिकाधर्म
संघवसेश
कुशलध्याय
वु-फेन लु (T1421), महिशासक संस्करण का अनुवाद
भिक्षुविभंग
भिक्षुणीविभंग
स्कंधक
मो-हो-सेंग-चि लु (T1425), महासांघिक संस्करण का अनुवाद
भिक्षुविभंग
भिक्षुणीविभंग
स्कंधक

इस के साथ साथ ही विभिन्न संस्करणों का विभिन्न भाग विभिन्न भाषाओं में पाया जाता है।

अभिधम्म साहित्य

बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने उनके उपदिष्ट 'धर्म' और 'विनय' का संग्रह कर लिया। अट्टकथा की एक परम्परा से पता चलता है कि 'धर्म' से दीघनिकाय आदि चार निकायग्रन्थ समझे जाते थे, और धम्मपद सुत्तनिपात आदि छोटे-छोटे ग्रंथों का एक अलग संग्रह बना दिया गया, जिसे 'अभिधर्म' (अतिरिक्त धर्म) कहते थे। जब धम्मसंगणि जैसे विशिष्ट ग्रंथों का भी समावेश इसी संग्रह में हुआ (जो अतिरिक्त छोटे ग्रंथों से अत्यंत भिन्न प्रकार के थे), तब उनका अपना एक स्वतंत्र पिटक- 'अभिधर्मपिटक' बना दिया गया और उन अतिरिक्त छोटे ग्रंथों के संग्रह का 'खुद्दक निकाय' के नाम से पाँचवाँ निकाय बना।

'अभिधम्मपिटक' में सात ग्रंथ हैं-

धम्मसंगणि, विभंग, जातुकथा, पुग्गलपंत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान।

विद्वानों में इनकी रचना के काल के विषय में मतभेद है। प्रारंभिक समय में स्वयं भिक्षुसंघ में इसपर विवाद चलता था कि क्या अभिधम्मपिटक बुद्धवचन है।

पाँचवें ग्रंथ कथावत्थु की रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की, जिसमें उन्होंने संघ के अंतर्गत उत्पन्न हो गई मिथ्या धारणाओं का निराकण

किया। बाद के आचार्यों ने इसे 'अभिधम्मपिटक' में संगृहीत कर इसे बुद्धवचन का गौरव प्रदान किया।

शेष छह ग्रंथों में प्रतिपादन विषय समान हैं। पहले ग्रंथ धम्मसंगणि में अभिधर्म के सारे मूलभूत सिद्धांतों का संकलन कर दिया गया है। अन्य ग्रंथों में विभिन्न शैलियों से उन्हीं का स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धान्त

तेल, बत्ती से प्रदीप्त दीपशिखा की भाँति तृष्णा, अहंकार के ऊपर प्राणी का चित्त (=मन =विज्ञान =कांशसनेस) जाराशील प्रवाहित हो रहा हे। इसी में उसका व्यक्तित्त्व निहित है। इसके परे कोई 'एक तत्त्व' नहीं है।

सारी अनुभूतियाँ उत्पन्न हो संस्काररूप से चित्त के निचले स्तर में काम करने लगती हैं। इस स्तर की धारा को 'भवंग' कहते हैं, जो किसी योनि के एक प्राणी के व्यक्तित्त्व का रूप होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'सबकांशस' की कल्पना से 'भवंग' का साम्य है। लोभ-द्वेष-मोह की प्रबलता से 'भवंग' की धारा पाशविक और त्याग-प्रेम-ज्ञान के प्राबलय से वह मानवी (और दैवी भी) हो जाती है। इन्हीं की विभिन्नता के आधार पर संसार के प्राणियों की विभिन्न योनियाँ हैं। एक ही योनि के अनेक व्यक्तियों के स्वभाव में जो विभिन्नता देखी जाती है उसका भी कारण इन्हीं के प्राबल्य की विभिन्नता है।

जब तक तृष्णा, अहंकार बना है, चित्त की धारा जन्म जन्मान्तरों में अविच्छिन्न प्रवाहित होती रहती है। जब योगी समाधि में वस्तुसत्ता के अनित्य-अनात्म-दु:खस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी तृष्णा का अंत हो जाता है। वह अर्हत् हो जाता है। शरीरपात के उपरान्त बुझ गई दीपशिखा की भाँति वह निवृत्त हो जाता है।

अभिधम्म-पिटक

'अभिधम्म-पिटक' में चित्त, चौतसिक आदि धर्मों का विशद् विश्लेषण किया गया है। 'सुत्तपिटक' के उपदिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर ही वस्तुत: 'अभिधम्म पिटक' का विकास हुआ है। 'अभिधम्म पिटक' में सात ग्रन्थ हैं-(1) धम्म संगणी, (2) विभंग, (3) धातुकथा, (4) पुग्गल पंचत्ति, (5) कथावत्थु, (6) यमक, (7) पट्टान।

'पाली' में त्रिपिटक साहित्य के अलावा 'अट्ठकथा साहित्य, 'मिलिन्दपबुहो', 'दीपवंश', 'महावंश' आदि ग्रन्थ भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि पालि का प्रचार न केवल उत्तरी भारत में था अपितु बर्मा, लंका, तिब्बत, चीन आदि देशों तक विस्तारित था।

- अट्ठकथा-साहित्य के प्रणेता आचार्य बुद्धघोष बतलाये जाते हैं, जिनका समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी निश्चित है।
- बुद्धघोष कृत 'विसुद्धि मग्ग' (विशुद्धमार्ग) को बौद्ध सिद्धान्तों का कोश भी कहा जाता है।
- पालि भाषा के तीन व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो निम्नलिखित हैं-(1) कच्चान व्याकरण, (2) मोग्गलान व्याकरण तथा (3) सद्देनीति।
- 'कच्चान व्याकरण' को 'कच्चान गन्ध' या 'सुसन्धिकप्प' भी कहा जाता है।
- 'कच्चान व्याकरण' में चार कप्प (सन्धि कप्प, नाम कप्प, आख्यात कप्प तथा किब्बिधानकप्प), 23 परिच्छेद तथा 675 सूत्र हैं।
- 'मोग्लान व्याकरण' के रचयिता मोग्गलान है। इन्होंने ही इस पर वृत्ति और पंचिका लिखी है।
- मोगलान श्रीलंका के अनुराधपुर के थूपाराम बिहार में रहते थे तथा वे अपने समय के संघराज थे।
- 'मोग्गलान व्याकरण', पालि व्याकरण में पूर्णता तथा गम्भीरता में सर्वश्रेष्ठ व्याकरण है। इस व्याकरण में 817 सूत्र हैं।
- 'सद्दनीति व्याकरण' (1154 ई.) के रचयिता बर्मी भिक्षु अग्गवंश थे, 'अग्गपण्डित तृतीय' भी कहलाते थे।
- 'सद्दनीति व्याकरण' तीन (पदमाला, धातुमाला और सूत्तमाला) 27 अध्याय तथा 1391 सूत्रों में निबद्ध है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित ढंग से बताई गई है -

विद्वान	व्युत्पत्ति
आचार्य विधुशेखर	पन्ति - पत्ति - पट्टि - पल्लि - पालि
मैक्स वालेसर	पाटलि पुत्र या पांलि।
भिक्ष जगदीश कश्यप	परियाय - पलियाय - पालियाय - पालि।

भण्डारकर व वाकर नागल	प्राकृत – पाकट – पाअड – पाउल – पालि
भिक्षु सिद्धार्थ	पाठ – पाळझ पाळि – पालि
कोसाम्बी	पाल् – पालि।
उदयनारायण तिवारी	पा + णिज् + लि = पालि।

पालि भाषा के प्रदेश को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा वर्णित पालि भाषा का प्रदेश निम्नांकित है–

विद्वान	**पालि भाषा प्रदेश**
श्रीलंकाई बौद्ध तथा चाइल्डर्स	मगध
वेस्टरगार्ड तथा स्टेनकोनो	उज्जयिनी या विन्ध्य प्रदेश
ग्रियर्सन व राहुल	मगध
ओलडेन वर्ग	कलिंग
रीज डेविड्स	कोसल
सुनीतिकुमार चटर्जी	मध्यदेश की बोली
देवेन्दनाथ शर्मा	मथुरा के आसपास का भू भाग
उदयनारायण तिवारी	मध्यदेश की बोली

- सर्वसम्मति से विद्वानों ने पालि भाषा का प्रदेश, मध्य प्रदेश की बोली को स्वीकार किया है।

पालि की वर्ण संघटना या ध्वनियाँ–

- पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि में 41 ध्वनियाँ होती हैं तथा मोग्गलान के अनुसार पालि में कुल 43 ध्वनियाँ होती हैं।
- कच्चायन के अनुसार पालि में 8 स्वर तथा 33 व्यंजन होते हैं तथा मोग्गलान के अनुसार 10 स्वर तथा 33 व्यंजन होते हैं।

पालि में वर्षों का वर्गीकरण निम्न ढंग से किया जा सकता है–

स्वर –

- ह्रस्व–अ, इ, उ, एँ, ओं
- दीर्घ–आ, ई, ऊ, ए, ओ

व्यंजन-3

- क वर्ग - क, ख, ग, घ, ङ
- च वर्ग - च, छ, ज, झ, ञ्
- ट वर्ग - ट, ठ, ड, ढ, ण।
- त वर्ग - त, थ, द, ध, न।
- प वर्ग - प, फ, ब, भ, म।
- य, र, ल, व, स, ह, ळ, अं।

पालि भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

- अनुस्वार (अं) पालि में स्वतन्त्र ध्वनि है जिसे पालि वैयाकरण में निग्गहीत नाम से अभिहित किया है। (बिन्दु निग्गहीत)।
- टर्नर के अनुसार पालि में वैदिकी की भाँति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक, दोनों स्वराघात थे। ग्रियर्सन तथा भोलानाथ तिवारी पालि में बलात्मक स्वराघात मानते हैं। जबकि जूल ब्लाक किसी भी स्वराघात को नहीं स्वीकार करते हैं।
- पालि में तीन लिंग, तीन वाच्य तथा दो वचन (एक वचन और बहुवचन) का प्रयोग मिलता है। पालि में द्विवचन नहीं होता है।
- पालि हलन्त रहित, छह कारक, आठ लकार (चार काल, चार भाव) तथा आठगण युक्त भाषा है।

प्रथम प्राकृत (पालि)

पालि के अन्तर्गत ही अभिलेखी प्राकृत तथा शिलालेखी प्राकृत भी आता है। इसके अधिकांश लेख शिला पर अमित होने के कारण इसकी संज्ञा शिलालेखी प्राकृत' हुई।

प्राकृत (द्वितीय प्राकृत)

मध्यकालीन आर्यभाषा को 'प्राकृत' भी कहा गया है।

प्राकृत की व्युत्पत्ति– 'प्राकृत' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं जो निम्न हैं-

प्राकृत प्राचीनतम् जनभाषा है-

- प्राकृत प्राचीनतम प्रचलित जनभाषा है। नमि साधु ने इसका निर्वचन करते हुए लिखा है-

'प्राक् पूर्व कृतं प्राकृत'

अर्थात् प्राक् कृत शब्द से इसका निर्माण हुआ है जिसका अर्थ है पहले की बनी हुई। जो भाषा मूल से चली आ रही है उसका नाम 'प्राकृत' है (नाम प्रकृतेः आगतं प्राकृतम्)।

• नामि साधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में लिखा है-

प्राकृतेति सकल-जगज्जन्तूनां व्याकरणादि मिरनाहत संस्कार- सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः प्रकृति तत्र भवः सेव वा प्राकृतम्'

अर्थात सकल जगत् के जन्तुओं (प्राणियों) के व्याकरण आदि संस्कारों से रहित सहजवचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है।

• वाक्पतिराज ने 'गउडबहो' में लिखा है-

''सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो यणेति वायाओ।।
एंति समुद्धं चिह णेति सायराओ च्चिय जलाई।।''

अर्थात्- जिस प्रकार जल सागर में प्रवेश करता है और वही से निकलता है, उसी प्रकार समस्त भाषाएँ प्राकृत में ही प्रवेश करती हैं और प्राकृत से ही निकलती हैं।

प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है-

इस मत की पुष्टि करने वाले विद्वान् निम्नलिखित हैं-

- 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतवां प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति या मूल संस्कृत है और जो संस्कृत से आगत है, वह प्राकृत है। (हेमचन्द)।
- 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' अर्थात् प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे उत्पन्न भाषा को प्राकृत कहते हैं। (प्राकृत सर्वस्य-मार्कण्डेय)।
- 'प्रकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनिः' अर्थात् प्राकृत की जननी संस्कृत है। (प्राकृत-संजीवनी-वासुदेव)।
- 'कृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता' अर्थात् संस्कृत की विकृति प्राकृत है। (षड् भाषाचन्दिका-लक्ष्मीधर)।
- 'प्रकृते- संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति संस्कृत से आगत प्राकृत है। (सिंह देवमणि)।
- अब प्रायः सभी विद्वानों ने इस बात को स्वीकार लिया है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है।

- द्वितीय प्राकृत को साहित्यिक प्राकृत' भी कहते हैं। प्राकृत भाषाओं के विषय में सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विचार किया।

भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 7 मुख्य प्राकृत तथा 7 गौण विभाषा की चर्चा की, जो अग्रांकित है–

मुख्य प्राकृत	गौण विभाषा
मागधी	शाबरी
अवन्तिजा	आभीरी
प्राच्या	चाण्डाली
सूरसेनी (शौरसेनी)	सचरी
अर्धमागधी	द्राविड़ी
बाहलीक	उदजा
दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री)	वनेचरी

प्राकृत-वैयाकरन

- प्राकृत-वैयाकरणों में सर्वप्रथम नाम वररुचि (7वीं शताब्दी) का आता है। इनके व्याकरण का नाम 'प्राकृत प्रकाश' है। इसमें 12 परिच्छेद हैं।
- वररुचि ने 'प्राकृत प्रकाश' ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के चार भेद बताए हैं, जो निम्नांकित हैं-(1) महाराष्ट्री, (2) पैशाची, (3) मागधी और (4) शौरसेनी।
- हेमचन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राकृत-व्याकरण' में प्राकृत भाषा के तीन और भेदों की चर्चा की, जो निम्न हैं- (1) आर्षी (अर्धमागधी), (2) चूलिका पैशाची, और (3) अपभ्रंश।
- हेमचन्द को प्राकृत का पाणिनी माना जाता है। अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिए हेमचन्द ने भट्टी के समान एक 'द्वयाश्रय काव्य' की भी रचना की है।
- हेमचन्द की 'चूलिका-पैशाची' को ही आचार्य दण्डी ने 'भूत भाषा' कहा है। महाराष्ट्री को प्राकृत वैयाकरणों ने आदर्श, परिनिष्ठित तथा मानक प्राकृत माना है। इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है।
- डॉ. हार्नले के अनुसार महाराष्ट्री का अर्थ 'महान् राष्ट्र' की भाषा है। महान् राष्ट्र के अन्तर्गत राजपुताना तथा मध्यप्रदेश आदि आते हैं।

- जॉर्ज ग्रियर्सन एवं जूल ब्लाक ने महाराष्ट्री प्राकृत से ही मराठी की उत्पत्ति मानी है।
- भरतमुनि ने 'दाक्षिणात्य प्राकृत भाषा का भेद महाराष्ट्री के लिए ही किया है।
- अवन्ती और वाल्लीक, ये दोनों भाषाएँ महाराष्ट्री भाषा में अन्तर्भूत है।
- डॉ. मनमोहन घोष और डॉ. सकुमार सेन का अभिमत है कि महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का ही विकसित रूप है।
- आचार्य दण्डी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में महाराष्ट्री को सर्वोत्कृष्ट प्राकृत भाषा बतलाया है–महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदु – सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयाम्।।
- महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ निम्नालिखित हैं- (1) राजा हाल कृत 'गाहा सतसई' (गाथा-सप्तशती), (2) प्रवरसेन कृत 'रावण वहो' (सेतुबन्धः), (3) वाक्पति कृत 'गउडवहो' (गौडवधः), (4) जयवल्लभ कृत 'वज्जालग्ग', (5) हेमचन्द कृत 'कुमार पाल चरित'।
- शौरसेनी प्राकृत मूलतः शूरसेन या मथुरा के आसपास की बोली थी। मध्यदेश की भाषा होने के कारण शौरसेनी का बहुत आदर था। (यो मध्ये मध्यदेशं विवसति स कविः सर्वभाषा निषण्णाः)। डॉ. पिशेल के अनुसार इसका विकास दक्षिण में हुआ।
- शौरसेनी मूलतः नाटकों के गद्य की भाषा थी। आचार्य भरतमुनि ने लिखा भी है - "शोरसैनम् समाश्रित्य भाषा कार्य तु नाटके।"

विद्वानों ने शौरसेनी प्राकृत का आधार भिन्न-भिन्न बताया है, जो निम्नलिखित है -

विद्वान्	शौरसेनी का आधार
वररुचि	संस्कृत (प्रकृतिः संस्कृतम)
रामशर्मन	महाराष्ट्री (विरच्यते सम्प्रति शौरसेनी पूर्वेवभाषा प्रकृतिः किलास्याः)
पुरुषोत्तम	संस्कृत तथा महाराष्ट्री (श्संस्कृतानुगमनाद् बहुलमश्य तथा 'शेषे महाराष्ट्री')

- वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत को ही प्राकृत-भाषा का मूल जाना है (प्रकृतिः शौरसेनी-प्राकृत प्रकाश-10-2)।

- पैशाची प्राकृत को पैशाचिकी, पैशाचिका, ग्राम्य भाषा, भूतभाषा, भूतवचन, भूतभाषित आदि नामों से भी पुकारा जाता है।
- जॉर्ज ग्रियर्सन ने पैशाची भाषा-भाषी लोगों का आदि-वास-स्थान उत्तर-पश्चिम पंजाब अथवा अफगानिस्तान को माना है तथा इसे 'दरद' से प्रभावित बताया।
- लक्ष्मीधर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'षड् भाषा चंन्दिका' में राक्षस, पिचाश तथा नीच पात्रों के लिए पैशाची भाषा का प्रयोग बतलाया है (रक्ष पिशाचनीचेषु पैशाची द्वितयं भवेत)।
- मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में कैकय पैशाची, शौरसेन पैशाची और पाचाल पैशाची, इन तीन प्रकार की पैशाची भाषाओं का तीन देशों के आधार पर नामकरण किया है।
- मागधी प्राकृत मगध देश की भाषा रही है। मार्कण्डेय ने शौरसेनी से मागधी की व्युत्पत्ति बतायी है। (मागधी शौरसेनीत:)।
- मागधी के शाकारी, चाण्डाली और शाबरी, ये तीन प्रकार मिलते हैं। मागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है।
- भरतमुनि के अनुसार मागधी अन्त:पुर के नौकरों, अश्वपालों आदि की भाषा थी।
- अर्धमागधी प्राकृत के सम्बन्ध में जॉर्ज ग्रियर्सन ने बताया कि यह मध्य देश (शूरसेन) और मगध के मध्यवर्ती देश (अयोध्या या कोसल) की भाषा थी।
- श्रीजिनदा सगणिमहत्तर (7वीं शताब्दी) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'निशीथचुर्णि' में अर्धमागधी को मगधदेश के अर्ध प्रदेश की भाषा में निबद्ध होने के कारण अर्धमागध कहा है (मगहद्ध विसयभाषा निबद्धं अद्धभागहं)।
- अर्धमागधी का प्रयोग मुख्यत: जैन-साहित्य में हुआ है। भगवान् महावीर का सम्पूर्ण धर्मोपदेश इसी भाषा में निबद्ध है।
- जैनियों ने अर्धमागधी को 'आर्ष', 'आर्षी', 'ऋषिभाषा' या 'आदिभाषा' नाम से भी अभिहित किया है।
- डॉ. जैकोबी ने प्राचीन जैन-सूत्रों की भाषा को प्राचीन महाराष्ट्री कहकर 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है।
- आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में अर्धमागधी को चेट, राजपूत एवं सेठों की भाषा बताया है।

अपभ्रंश (तृतीय प्राकृत)

'अप्रभ्रंश' मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है। इसीलिए विद्वानों ने अपभ्रंश' को एक सन्धिकालीन भाषा कहा है।

• भर्तृहरि के 'वाक्यपदीयम्' के अनुसार सर्वप्रथम व्याडि ने संस्कृत के मानक शब्दों से भिन्न संस्कारच्युत, भ्रष्ट और अशुद्ध शब्दों को 'अपभ्रंश' की संज्ञा दी। भर्तृहरि ने लिखा है-

'शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षते।
तमपभ्रंश मिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्'

- व्याडि की पुस्तक का नाम 'लक्षश्लोकात्मक-संग्रह' था जो दुर्भाग्य-वश अनुपलब्ध है।
- 'अपभ्रंश' शब्द का सर्वप्रथम प्रामाणिक प्रयोग पतंजलि के 'महाभाष्य में मिलता है। महाभाष्यकार ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग अपशब्द' के समानार्थक रूप में किया है-

'भयां सोऽपशब्दाः अल्पीयांसाः शब्दारू इति।
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोप्रभंशाः।।'

- 'अपभ्रंश' के सबसे प्राचीन उदाहरण भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में मिलते हैं, जिसमें 'अपभ्रंश' को 'विभ्रष्ट' कहा गया है।
- डॉ. भोलानाथ तिवारी और डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार, भाषा के अर्थ में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रथम प्रयोग-चण्ड (6वीं शताब्दी) ने अपने 'प्राक्रत-लक्षण' ग्रन्थ में किया है। (न लोपोऽभंशेऽधो रेफस्य)।
- आचार्य रामचन्द शुक्ल के अनुसार, 'अपभ्रंश' नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि. सं. 650 के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है।
- भामह ने 'काव्यालंकार' में अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा के रूप में वर्णित किया है-
  'संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।'
- आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अपभ्रंश को 'णदृण भाषा' कहा है।
- आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में समस्त वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र, इन चार भागों में विभक्त किया है-

'तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृत प्राकृतं तथा।।
अपभ्रंशश्च मिश्रश्चेत्याहुशर्याश्चतुर्विधम्।।'

- आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अपभ्रंश को 'आभीर' भी कहा है- 'आभीरादि गिरथः काव्येष्वपभ्रंशः इति स्मृताः।'
- अपभ्रंश को विद्वानों ने विभ्रष्ट, आभीर, अवहंस, अवहट्ट, पटमंजरी, अवहत्थ, औहट, अवहट, आदि नाम से भी पुकारा है।

विभिन्न विद्वानों ने अपभ्रंश के निम्नलिखित भेद बताए हैं-

विद्वान	अपभ्रंश के भेद
नमि साधु	(1) उपनागर, (2) आभीर, (3) ग्राम्य।
मार्कण्डेय	(1) नागर, (2) उपनागर, (3) व्राचड।।
याकोबी	(1) पूर्वी, (2) पश्चिमी, (3) दक्षिणी, (4) उत्तरी।।
तागरे	(1) पूर्वी, (2) पश्चिमी, (3) दक्षिणी।
नामवर सिंह	(1) पूर्वी और (2) पश्चिमी।।

• डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषा के विकास की एक 'स्थिति' माना है। इनके अनुसार 6वीं से 11वीं शती तक प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश रूप रहा होगा-जैसे मागधी प्राकृत के बाद मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी प्राकृत के बाद अर्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत के बाद शौरसैनी अपभ्रंश एवं महाराष्ट्री प्राकृत के बाद महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि।

अपभ्रंश की ध्वनियाँ-डॉ. उदयनारायण तिवारी ने अपभ्रंश की ध्वनियों का वर्गीकरण निम्न ढंग से किया है-

स्वर-(10 स्वर)

- ह्रस्व- अ, इ, उ, एँ, ओं
- दीर्घ- आ, ई, ऊ, ए, ओ

व्यंजन-(व्यंजन = 30)

- कण्ठ्य - क, ख, ग, घ - 4
- तालव्य - च, छ, ज, - झ 4
- मूर्धन्य - ट, ठ, ड, ढ, ण - 5
- दन्त्य - त, थ, द, ध, (न-पूर्वी अप.) - 5
- ओष्ट्य प, फ, ब, भ, म - 5

- अन्तस्थ – य, र, ल, व (श-पूर्वी अपभ्रंश) – 5
- ऊष्म – स, ह – 2

अपभ्रंश भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

- अपभ्रंश को उकार बहुला भाषा कहा गया है।
- अपभ्रंश वियोगात्मक हो रही थी अर्थात् अपभ्रंश में विभक्तियों के स्थान पर स्वतन्त्र परसर्गों का प्रयोग होने लगा था।
- अपभ्रंश में दो वचन (एकवचन और बहुवचन) और दो ही लिंग (पुलिंग और स्त्रीलिंग) मिलते हैं। अवहट्ट अपभ्रंश का ही परवर्ती या परिवर्तित रूप है।
- डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी को 'अवहट्ट' कहा है।
- 'अवहट्ट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग-ज्योतिश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्णरत्नाकर ग्रन्थ' में किया है।

प्राकृत

भारतीय आर्यभाषा के मध्ययुग में जो अनेक प्रादेशिक भाषाएँ विकसित हुई उनका सामान्य नाम प्राकृत है और उन भाषाओं में जो ग्रंथ रचे गए उन सबको समुच्चय रूप से प्राकृत साहित्य कहा जाता है। विकास की दृष्टि से भाषावैज्ञानिकों ने भारत में आर्यभाषा के तीन स्तर नियत किए हैं–प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन। प्राचीन स्तर की भाषाएँ वैदिक संस्कृत और संस्कृत हैं, जिनके विकास का काल अनुमानतः ई. पू. 2000 से ई. पू. 600 तक माना जाता है। मध्ययुगीन भाषाएँ हैं–मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची भाषा, महाराष्ट्री और अपभ्रंश। इनका विकासकाल ई. पूर्व 600 ई. 1000 तक पाया जाता है। इसके पश्चात्, हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि उत्तर भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास प्रारंभ हुआ जो आज तक चला आ रहा है।

मध्ययुगीन भाषाओं (प्राकृत) की मुख्य विशेषताएँ

प्राचीन भाषाओं से उक्त मध्ययुगीन भाषाओं में मुख्यतः निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं–

(1) संस्कृत के स्वरों में ऋ, ऌ, एवं ऐ और औ का मध्ययुगीन भाषाओं में अभाव है। ए और ओ की ह्रस्व मात्राओं का प्रयोग इन भाषाओं की अपनी विशेषता है।
(2) विसर्ग यहाँ सर्वथा नहीं पाया जाता।
(3) क से लेकर म् तक के स्पर्शवर्ण पाए जाते हैं। किंतु अनुनासिकों में संकोच तथा व्यत्यय होता है।
(4) तीनों ऊष्मा वर्णों के स्थान पर केवल एक और विशेषतः स् ही अवशिष्ट पाया जाता है।
(5) संयुक्त व्यंजनों का प्राय अभाव है। दोनों संयोगी व्यंजनों का या तो समीकरण कर लिया जाता है अथवा स्वरागम द्वारा दोनों को विभक्त कर दिया जाता है, या उनमें से एक का लोप कर दिया जाता है।
(6) द्वित्व व्यंजन से पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिया जाता है एवं संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप कर उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ कर दिया जाता है।
(7) व्याकरण की दृष्टि से संज्ञाओं तथा क्रियाओं के रूपों में द्विवचन नहीं पाया जाता
(8) हलंत संज्ञाओं और धातुओं को स्वरांत बनाकर चलाया जाता है।
(9) कारक के रूपों में संकोच पाया जाता है।
(10) क्रियाओं में गणभेद एवं परस्मैपद आत्मनेपद का भेद नहीं किया जाता।
(11) सभी प्रकार के रूप विकल्प से चलते हैं।
(12) क्रियारूपों में कालादि भेदों का अल्पीकरण हुआ है। इनका बहुत काम बहुधा कृदंतों से चलाया जाता है।

प्राकृत की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

अब प्रश्न यह होता है कि मध्ययुग की भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षा इतनी अधिक विशेषताएँ कब, क्यों, कैसे और कहाँ पर उत्पन्न हो गई। प्राकृत के वररुचि आदि वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं की प्रकृति संस्कृत को मानकर उससे प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति की है। "प्रकृतिः संस्कृतं, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्"। किंतु संस्कृत भाषा का वर्तमान स्वरूप स्वयं ई. पूर्व छठी शती के लगभग विकसित हुआ है और उसे स्थिर रूप तो पाणिनि द्वारा ई. पू. तीसरी चौथी शती में दिया गया है। संस्कृत के उक्त प्रकार के अनेक लक्षणों से विभिन्न

भाषाओं का छठी शती ई. पू. में ही उत्पन्न होना कैसे संभव हो सकता है ? इसके अतिरिक्त प्राकृत में ऐसे भी अनेक शब्द पाए जाते हैं जिनका संस्कृत में अभाव है, किंतु वैदिक भाषा में वे विद्यमान हैं। प्राकृत की अनेक प्रवृत्तियों को लिए हुए बहुत से शब्द वेदों में पाए जाते हैं, जो संस्कृत व्याकरण के अनुकूल नहीं हैं। इस समस्या पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों का एक मत यह है कि आर्यभाषा जब भारतवर्ष में प्रचलित हुई, अनार्य लोग उसका आर्यो के सदृश शुद्ध शुद्ध उच्चारण और प्रयोग नहीं कर पाए, अतएव उन्होंने अपने निजी उच्चारण एवं भाषाशैली के अनुसार उसे बोलना प्रारंभ किया और उनके संपर्क से इस का प्रभाव आर्यों पर भी पड़ा। इसी के फलस्वरूप प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का विकास हुआ। इस मत के समर्थन में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक काल से ही जो ट् ठ् आदि मूर्धन्य ध्वनियों का प्रवेश आर्यभाषा में हुआ, वह बहुलता से उस काल की अनार्य भाषाओं का ही प्रभाव था। किंतु प्राचीन अनार्य भाषाओं का विश्लेषण कर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि प्राकृत की उक्त विशेषताओं का बीज उन अनार्य भाषाओं में विद्यमान थे। इसीलिये इस मत के संबंध में विवाद है।

दूसरा मत यह है कि वेदों की भाषा बोलने वाले जातियों में ही स्वयं ध्वन्यात्मक भेद थे, जिनके कुछ प्रमाण वेदों में ही उपस्थित है अनुमानतः वेदों की भाषा उस काल की रूढ़िबद्ध वेदभाषा के क्रमविक से अनुमानतः कई हजार वर्षो में संस्कृत भाषा का विकास हुआ, पर विशेषतः सुशिक्षित पुरोहित वर्ग की अपनी भाषा थी, तथा जिसमें धार्मिक कार्यों में ही उपयोग किया जाता था। उतने ही काल प्राचीनतम वैदिक भाषा की समकालीन जनसाधारण की लोकभाषा से संस्कृत के साथ साथ ही प्राकृत का भी विकास हुआ, जिसमें प्रदेशभेदानुसार नाना भेद थे। इस संबंध में यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में आर्यों का प्रवेश एक ही काल में एवं एक धारा में हुआ नहीं कहा जा सकता। यदि आगे पीछे आने वाली आर्य जातियों के भाषाभेद से प्राकृत भाषाओं के उद्‌गम और विकास व संबंध हो तो आश्चर्य नहीं। इस संबंध में हॉर्नले और ग्रियर्सन के वह मत भी उल्लेखनीय है जिसके अनुसार भारतीय आर्यभाषाएँ दो वर्गो में विभाजित पाई जाती हैं– एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की भाषाओं के उक्त प्रकार दो वर्ग उत्पन्न हो गए। इसे संक्षेप में समझने के लिये महाराष्ट्र प्रदेश के नामों जैसे गोखले, खेर, परांजपे, पाध्ये, मुंजे गोडवोले, तांबे, तथा लंका में प्रचलित नामों जैसे गुणतिलके सेना नायके, बंदरनायक आदि

में जो अकारांत कर्ता एक वचन के रूप से ए प्रत्यय दिखाई देता है, वही पूर्व की मागधी प्राकृत में अपने नियमित स्थिरता को प्राप्त हुआ पाया जाता है। आदि आर्यभाषा में वैदिक र के स्थान पर ल् का उच्चारण भी माना गया है, जैसे कुलउ उ श्रोत्र। उसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वैदिक वृक् के स्थान पर जर्मन भाषासमूह में वुल्फ एवं ग्रीक में पृथु का प्लुतुस् पाया जाता है। यह र के स्थान पर ल् का उच्चाराण ध्वनि मागधी से सुरक्षित हैं, किंतु उसी काल की बोलियों में उनके समीकृत रूप जैसे ओत्त अत्त, सत्त, भी पाए जाते हैं। बोगाजकुई के भिन्न मितन्नि (मैत्र यणी ?) आर्यशाखा के जो लगभग 200 ई. पू. के लेख मिले हैं उनमें इंद और नासत्य देवताओं के नाम इंदर और नासातीय रूप से अंकित हैं। उनमें स्वरभक्ति द्वारा संयुक्त वर्णों के संयुक्त किए जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। वरुण देवता का नाम "उरुवन" रूप में उल्लिखित है जिसमें स्वर के अग्रागम तथा वर्णव्यत्यय की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। ये प्रवृत्तियाँ प्राकृत के सामान्य लक्षण हैं। पालि में प्रयुक्त इध संस्कृत तथा वैदिक के इह से पूर्वकालीन परंपरा का है इसमें भी किसी को कोई संदेह नहीं है। आदि आर्यभाषा में ए तथा ओ के ह्रस्व रूप थे, ऐ और औ का अभाव था, किंतु अइ, अउ जैसे मिश्र स्वर प्रचलित थे, अनुनासिक स्पर्शों का संकोच था, तीन ऊष्मों में केवल एकमात्र स् ही था। ये ध्वन्यात्मक विशेषताएँ प्रधानत: शौरसेनी प्राकृत में सुरक्षित पाई जाती हैं, इत्यादि। इन लक्षणों के सद्भाव का समाधान समुचित रूप से यही मानकर किया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं में उनका आगमन प्राचीनतम आर्य जातियों की बोलियों से अविच्छिन्न परंपरा द्वारा चला आया है। यथार्थत: संस्कृत हो अथवा वैदिक को ही प्राकृत की प्रकृति मान लेने से उक्त लक्षणों का कोई समाधान नहीं होता।

तब प्राकृत के वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति क्यों कहा? इसका कारण उन व्याकरणों के रचे जाने के काल और उनके स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्टत: समझ में आ जाता है। वे व्याकरण उस काल में लिखे गए जब विद्वत्समाज में प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का अधिक प्रचार और सम्मान था। वे लिखे भी संस्कृत भाषा में गए हैं तथा उनका उद्देश्य भी संस्कृत नाटकों में भी प्राकृतिकता रखने के लिए करना पड़ता था और जिनमें उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ भी निर्मित हो चुकी थीं। अतएव उन वैयाकरणों ने संस्कृत को आदर्श ठहराकर उससे जो विशेषताएँ प्राकृत में थीं उनका विवरण उपस्थित कर दिया और इसकी सार्थकता संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहकर सिद्ध कर दी।

तथापि नमिसाधु ने अपना यह मत स्पष्ट प्रकट किया है कि प्रकृति का अर्थ लोक या जनता है और जनसाधारण को भाषा होने से ही वह प्राकृत कहलाई। प्रकृति का अर्थ लोक बहुत प्राचीन है तथा कालिदास ने भी उसका लोक के अर्थ में प्रयोग किया है (राजा प्रकृति रंजनात्, रघु. सर्ग, 4)। प्राकृतों की इस अति प्राचीन परंपरा के प्रकाश में इन भाषाओं को वैदिक और संस्कृत की अपेक्षा उत्तरकालीन व मध्ययुगीन कहने का औचित्य भी विचारणीय हो जाता है। उसकी यदि कोई सार्थकता है तो केवल इतनी कि ये भाषाएँ वैदिक और संस्कृत के पश्चात् ही साहित्य में प्रयुक्त हुई। उनका प्रथम बार धार्मिक प्रचार के लिये उपयोग ई. पू. छठी शती में श्रमण महावीर और बुद्ध ने किया। तथा उनकी साहित्यिक रचनाओं में शब्दों तथा शैली की दृष्टि से संस्कृत का बड़ा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्राकृत भाषा का स्वरूप एवं क्रमिक विकास

भाषा जब तक बोली के रूप में रहती है, उसमें देश और काल की अपेक्षा निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। इसी नियम के अनुसार काल के सापेक्ष प्राकृत के तीन स्तर स्वीकार किए गए हैं –

पूर्वकालीन (ई. पू. 600 से 100 ई. तक),
मध्यकालीन (ई. 100 से 600 ई. स. तक) तथा
उत्तरकालीन (ई. सन् 600 से 1000 तक)।

प्राचीन स्तर की प्राकृत

श्रमण महावीर और बुद्ध ने जिस भाषा या भाषाओं में अपने उपदेश दिए वे प्राकृत के प्राचीन स्तर के उत्कृष्ट रूप रहे होंगे। उनके उपदेशों की भाषा को क्रमशः मागधी एवं अर्धमागधी कहा गया है। किंतु वर्तमान में पालि कही जाने वाली भाषा के ग्रंथों में हमें मागधी का वह स्वरूप नहीं मिलता जैसा पश्चात्कालीन वैयाकरणों ने बतलाया है। तथापि भाषा का जो स्वरूप बौद्ध त्रिपिटक ग्रंथों में पाया जाता है वह प्राकृत के प्राचीन स्तर का ही स्वीकार किया जाता है। इस स्तर पर प्राकृत का सर्वतः प्रामाणिक स्वरूप अशोक की शिलाओं और स्तंभों पर उत्कीर्ण धर्मलिपियों में उपलबध होता है। इन शिलाओं की संख्या लगभग 30 है। सौभाग्य से इनमें केवल ई. पूर्व तृतीय शती की प्राकृत भाषा का स्वरूप सुरक्षित है, किंतु उन प्रशस्तियों में तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी

हमें प्राप्त होते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में शहबाजगढ़ी और मानसेहरा नामक स्थानों की शिलाओं पर जो 14 प्रशस्तियाँ खुदी हुई पाई गई हैं उनमें स्पर्श वर्णों के अतिरिक्त र और ल् एवं श् ष् स् ये तीनों ऊष्म प्रायः अपने अपने स्थानों पर सुरक्षित हैं। रकार युक्त संयुक्त वर्ण भी दिखाई देते हैं। किंतु ज्ञ और णय के स्थान पर ं का प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार यह भाषा वैयाकरणों की पैशाची प्राकृत का पूर्वरूप कही जा सकती है। ये ही 14 प्रशस्तियाँ उस भाषा को शौरसेनी का प्राचीन रूप प्रकट करती हैं। उत्तर प्रदेशवर्ती कालसी, जौगड़ नछौली नामक स्थानों पर भी वे ही 14 प्रशस्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें हमें र के स्थान पर ल् तथा अकारांत संज्ञाओं के कर्ता कारक एक वचन की ए विभक्ति प्राप्त होती है। तथापि तीनों ऊष्मों के स्थान पर श् नहीं किंतु स् का अस्तित्त्व मिलता है। इस प्रकार यहाँ मागधी प्राकृत के तीन लक्षण नहीं। अतएव इसे मागधी की अपेक्षा अर्धमागधी प्राकृत के तीन लक्षणों में से दो प्रचुर रूप से प्राप्त होते हैं, किंतु सकार संबंधी तीसरा लक्षण नहीं। अतएव इसे मागधी की अपेक्षा अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीन रूप कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अशोक की प्रशस्तियाँ उनके भाषात्मक महत्त्व के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें प्राचीन भारत (ई. पू. 3री शती) के एक ऐसे सम्राट के नीति, धर्म एवं सदाचार संबंधी विचार और उपदेश निहित हैं जिसने न केवल इस विशाल देश के समस्त भागों पर राजनीतिक अधिकार ही प्राप्त किया था, तथा देश के बाहर भी अलेक्जेंड्रिया तक भिन्न भिन्न देशों से सांस्कृतिक संबंध स्थापित किया था और यहाँ अपने धर्मदूत भी भेजे थे।

प्राचीन स्तर की प्राकृत का दूसरा उदाहरण उड़ीसा की उदयगिरि खंडगिरि की हाथीगुंफा नामक गुहा में उत्कीर्ण कलिंगसम्राट् खारवेल का लेख है जो अनेक बातों में अशोक के शिलालेखों से समता रखता है। किंतु इसकी अपनी विशेषता यह है कि इसमें उस सम्राट् के वर्षो की विजयों तथा लोककल्याण संबंधी कार्यो का विवरण लिखा गया है। इसका काल अनुमानतः ई. पू. द्वितीय शती है। उसकी भाषा अशोक की गिरनार की प्रशस्तियों से मेल खाती है, अतएव वह प्राचीन शौरसेनी कही जा सकती है। इस प्राकृत का ई. पू. तीसरी शताब्दी मं पश्चिम भारत और उसके सौ, डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् जैन "ाट्खंडागम आदि ग्रंथों एवं कुंदकुंदाचार्य आदि की दक्षिण प्रदेश की रचनाओं में पाया जाना उसकी तत्कालीन दिग्विजय तथा सार्वभौमिकता का प्रमाण है। उस काल में इतना प्रचार और किसी भाषा का नहीं पाया जाता।

इसी प्राचीन स्तर की प्राकृत का प्रयोग हमें अश्वघोष कृत सारिपुत्र प्रकरण आदि नाटकों के उपलब्ध खंडों में प्राप्त होता है। इनमें नायकों तथा एक दो अन्य पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं, जिसके तीन रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। सारिपुत्र प्रकरण में दुष्ट की भाषा में र के स्थान पर ल, तीनों ऊष्मों के स्थान पर श् तथा अकारांत संज्ञाओं के कर्ताकारक एकवचन के रूप में ए विभक्ति, ये तीन लक्षण स्पष्टत: उस भाग को मागधी सिद्ध करते हैं। यहाँ क् त् आदि अघोष वर्ण न तो ग् द् आदि सघोषों में परिवर्तित हुए मिलते, न थ घ् आदि महाप्राण वर्ण ह् में परिवर्तित हुए मिलते, न थ् घ् आदि महाप्राण वर्ण ह्न में परिवर्तित हुए और न दंत्य न् के स्थान पर मूर्धन्य ण दिखाई देता। ये अश्वघोष की प्राकृत के लक्षण उसे प्राचीन स्तर की सिद्ध कर रहे हैं। गोर्व नामक पात्र की भाषा की प्राकृत मे र के स्थान पर स् का प्रयोग हुआ है। ये लक्षण उसे अर्धमागधी सिद्ध कर रहे हैं। नायिका, विदूषक तथा अन्य पात्रों की प्राकृत में र और ल् अपने अपने स्थानों पर हैं। सब ऊष्म स् के रूप में पाए जाते हैं तथा कर्ताकारक एकवचन ओकारांत पाया जाता है। इनसे यह भाषा स्पष्टत: प्राचीन शौरसेनी कही जा सकती है।

द्वितीय स्तर की प्राकृत

इसके पश्चात् प्राकृत भाषाओं के जो भेद प्रभेद हुए उनका विशद वर्णन भरत नाट्यशास्त्र (अध्याय 17) में प्राप्त होता है। उन्होंने वाणी का पाठ दो प्रकार का माना है–संस्कृत और प्राकृत, तथा कहा है कि प्राकृत में तीन प्रकार के शब्द प्रचलित हैं- समान (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। नाटक में भाषाप्रयोग का विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है - उत्तम पात्र संस्कृत बोलें, किंतु यदि वे दरिद हो जाएँ तो प्राकृत बोलें, श्रमण, तपस्वी भिक्षु, स्त्री, बालक, आदि अशुद्ध है। तथापि इतना स्पष्ट है कि उन्होंने क, त, द, य और व के लोप, ख, घ आदि महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह का आदेशय, ट का ड, अनादि त् का अस्पष्ट द कार उच्चारणय श्ट, श्ण आदि का खकार, इन परिवर्तनों का उल्लेख किया है। इससे प्रमाणित है कि वे द्वितीय स्तर की प्राकृत का ही वर्णन कर रहे हैं। 32वें अध्याय में उन्होंने ध्रुवा नामक गीतिकाव्य का विस्तार से उदाहरणों सहित वर्णन किया है और स्पष्ट कहा है कि ध्रुवा में शौरसेनी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए (भाषा तु शोरसेनी ध्रुवायाँ संप्रयोजयेत्)। यह बात उनके उदाहरणों से भी प्रमाणित है। अत: पश्चात्कालीन धारणा निर्मूल है कि नाटकों

के गेय भाग में महाराष्ट्री का प्रयोग किया जाय। भरत के मत से नाटक में शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जाय या इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का। ऐसी देशभाषाएँ सात हैं–मागधी, आवंती, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दक्षिणात्या। अंत:पुर निवासियों के लिये मागधीय चेट, राजपुत्र और सेठों के लिये अर्घमागधी, विदूषकादि के लिये प्राच्याय नायिका एवं सखियों के लिये अर्धमागघी, विदूषकादि के लिये प्राच्याय नायिका एवं सखियों के लिये शौरसेनी से अविरुद्ध आवंतीय योद्धा, नागरिक तथा जुआरियों के लिये दाक्षिणात्या तथा उदीच्य, खस, शबर, शक आदि जातियों के लिये वाह्लीका का प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त भरत ने शबर, आभीर, चांडाल आदि की हीन भाषाओं को विभाषा कहा है। इस प्रकार भरत के नाटक के पात्रों में जो प्राकृत भावनाओं का बँटवारा किया है उसका संस्कृत के नाटकों में आंशिक रूप से ही पालन किया जाता है।

संस्कृत नाटकों में सबसे अधिक प्राकृत का उपयोग और वैचित्र्य शूदक कृत मृच्छकटिकम् में मिलता है। पिशल, कीथ विद्वानों आदि के मतानुसार तो मृच्छकटिक की रचना का उद्देश्य ही प्राकृत सम्बन्धी नाट्यशास्त्र के नियमों को उदाहृत करना प्रतीत होता है। इस नाटक के टीकाकार पृथ्वीधर के मतानुसार नाटक में चार प्रकार की प्राकृत का ही प्रयोग किया जाता है - शौरसेनी, अवंतिका, प्राच्य और मागधी। प्रस्तुत नाटक में सूत्रधार, नटी, नायिका वसंतसेना, चारुदत्त की ब्राह्मणी स्त्री एवं श्रेष्ठी तथा इनके परिचारक परिचारिकाऐं ऐसे 11 पात्र शौरसेनी बोलते हैं। आवंती भाषा बोलने वाले केवल दो अप्रधान पात्र हैं। प्राच्य भाषा केवल विदूषक बोलता है, तब कुंज, चेटक, भिक्षु और चारुदत्त का पुत्र कुल छह पात्र मागधी बोलते हैं इनके अतिरिक्त शकारि, चांडाली तथा ढक्की के भी बोलने वाले एक एक दो दो पात्र हैं। किंतु यदि इन सब पात्रों की भाषा का विश्लेषण किया जाए तो वे सब केवल दो भागों में बाँटी जा सकती हैं–शौरसेनी और मागधी। टीकाकार ने स्वयं कहा है कि आवंती में केवल रकार व लोकोक्तियों का बाहुल्य होता है और प्राच्या में स्वार्थिक ककार का। अन्य बातों में वे शौरसेनी ही हैं। शकारी, चांडाली तथा ढक्की सब मागधी की ही शैलियाँ हैं। इस प्रकार नामचार का प्राकृत बाहुल्य होने पर भी वस्तुत: मृच्छकटिक में अश्वघोष के नाटकों की अपेक्षा कोई अधिक भाषाभेद नहीं दिखाई देता। प्राकृत का स्वरूप कालगति से विशेष विकसित हो गया है और उसमें कुछ ऐसे लक्षण आ गए हैं जिनके कारण इस प्राकृत को प्राचीन स्तर की

अपेक्षा द्वितीय स्तर की कहा जाता है। इसी स्तर की प्राकृत तथा उसके देशभेदों का विवरण हमें उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों में मिलता है और उन्हीं का विपुल साहित्य भी विद्यमान है।

द्वितीय स्तर की प्राकृत का सर्वप्राचीन व्याकरण चंडकृत प्राकृत लक्षण या आर्ष प्राकृत व्याकरण है। यह अति संक्षिप्त है और केवल 99 सूत्रों में प्राकृत की विधियों का निरूपण कर दिया गया है। इस स्तर की विशेषता बतलाने वाले सूत्र ध्यान देने योग्य हैं। सूत्र 76 के अनुसार वर्गो के प्रथम क् च् ट् त् आदि वर्णों के स्थान पर तृतीय का आदेश होता है, जैसे, पिशाची–बिसाजी, जटा–डटा, कृतं–कदं, प्रतिसिद्ध–पदिसिद्धं। सूत्र 77 के अनुसार ख् घ् च् और भ के स्थान में हकार का आदेश जैसे- मुखं–मुहं, मेघ–नेहो, माधव–माहवो, वृषभ–वसहो। सूत्र 97 के अनुसार क् तथा वर्गों के तृतीय वर्णों (ग् ज् आदि) का स्वर के परे लोप होता है, जैसे - कोकिल–कोहली, भौगिक–भोइओ, राजा–राया, नदी–नई। सूत्र 98 के अनुसार लुप्त व्यंजन के परे अ होने पर य होता है, जैसे - काकाऊ कायाऊ, नानाऊ नाया, राजाऊ राया। अंतिम 99वें सूत्र में कहा गया है कि प्राकृत की शेष व्यवस्था शिष्ट प्रयोगों से जाननी चाहिए। इनसे आगे के चार सूत्रों में अपभ्रंश का लक्षण, संयुक्त वर्ण से लकार का लोप न होना, पेशाची का र और ण् के स्थान पर ल् और न का आदेश, मागधिका का र और स् के स्थान पर ल् और श् का आदेश, तथा शौरसेनी का त् के स्थान में विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। भाषाशास्त्रियों का मत है कि द्वितीय स्तर के आदि में क आदि अबोध वर्णों के स्थान पर ग् आदि सघोष वर्णों का उच्चारण होने लगा। फिर इनकी अल्पतर ध्वनि शेष रही और फिर सर्वथा लोप हो गया, तथा महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर केवल एक शुद्ध ऊष्म ध्वनि ह् अवशिष्ट रह गई। ये प्रवृत्तियाँ तथा उक्त आर्ष व्याकरण में निर्दिष्ट य श्रुति विकल्प से समस्त जैन प्राकृत है। किंतु पश्चात्कालीन 16वीं, 17वीं शती के प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृतों के निरूपण में जो भ्रांतियाँ उत्पन्न की हैं, उनके आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने जैन साहित्य की प्राकृतों को उक्त विकल्पों के सद्भाव के कारण जैन शौरसेनी तथा जैन महाराष्ट्री नामों द्वारा पृथक् निर्दिष्ट करना आवश्यक समझा, यह ऐतिहासिक दृष्टि से वास्तविक नहीं है।

इस आर्ष प्राकृत व्याकरण के पश्चात् प्राकृतप्रकाश नामक व्याकरण लिखा गया, जिसमें आगे दो बार वृद्धि की गई। आदि के नौ परिच्छेद वररुचि कृत हैं। इनमे आदर्श प्राकृत की क्रमशः स्वरविधि, व्यंजनविधि, संयुक्तवर्ण विधि,

संकीर्ण, संज्ञारूप, सर्वनाम विधि, क्रियारूप, धात्वादेश एवं अव्ययों का निरूपण किया गया है। अंत में कहा गया है कि प्राकृत का शेष स्वरूप संस्कृत को समझना चाहिए। इस व्याकरण में द्वितीय स्तर के प्राकृत का स्वरूप पूर्णरूप से निर्धारित हुआ पाया जाता है। इसके अनुसार मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् प् य और द का प्रायः लोप होता है, एवं ख् घ् थ् ध् और भ् के स्थान पर ह् आदेश। प्राकृतप्रकाश के इस प्राचीन विभाग पर कात्यायन, भामह, वसंतराज, सदानंद और रामपाणिवादकृत टीकाएँ पाई जाती हैं। आगे के 10वें और 12वें परिच्छेदों में क्रमशः पैशाची का 14 सूत्रों में तथा मागधी का 17 सूत्रों में निरूपण किया गया है। इन दोनों भाषाओं की प्रकृति शौरसेनी कही गई है। किंतु इससे पूर्व कहीं भी शौरेसेनी का नाम नहीं आया। अतएव अनुमानतः इसके कर्ताओं की दृष्टि में सामान्य प्राकृत का निरूपण उस काल की सुप्रचलित शोरसेनी का ही है। इन दो परिच्छेदों पर केवल भामह की टीका है और विद्वानों का अनुमान है कि ये दोनों परिच्छेद उन्हीं के जोड़े हुए हैं। इनमें पैशाची का विशेषता शब्द के मध्य में तृतीय चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम तथा द्वितीय का आदेश, ण के स्थान पर न्, ञ्, न्य के स्थान पर ञ्ञ् तथा त्वा के स्थान पर तूण बतलाई गई है और मागधी की " , स्, के स्थान पर क्ष ज् के स्थान पर ", क्ष के स्थान पर एक अहं के स्थान पर हके, हगे व अहके, तथा अकारांत कर्ता कारक एकवचन के अंत में ए कही गई हैं। प्राकृत प्रकाश का अंतिम 12 वाँ परिच्छेद बहुत पीछे जोड़ा गया प्रतीत होता है। इसपर भामह व अन्य किसी की टीका नहीं है। इस परिच्छेद की अवस्था बड़ी विलक्षण है। इसमें शौरसेनी के लक्षण बतलाए गए हैं, जिसकी आदि में ही प्रकृति संस्कृत कही गई है। किंतु अंतिम 32वें सूत्र में पुनः कहा गया है– शेषं महाराष्ट्री वत्। परंतु महाराष्ट्री शब्द इससे पूर्व ग्रंथ भर में अथवा अन्य कहीं व्याकरण में आया ही नहीं है। जान पड़ता है यह परिच्छेद उस समय जोड़ा गया है जब यह धारणा सुदृढ़ हो गई कि प्राकृत काव्य की भाषा महाराष्ट्री ही होनी चाहिए। अतएव जहाँ प्राकृत का निर्देश है, वहाँ महाराष्ट्री का ही तात्पर्य ग्रहण किया जाय। यहाँ जो शौरसेनी का स्वरूप बतलाया गया है, उसी से स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वरूप यहाँ सामान्य प्राकृत का बतलाया गया है, वह शौरसेनी का ही कालानुसार विकसित रूप है। उदाहरणार्थ शौरसेनी में मध्यवर्ती त् और थ् के स्थान क्रमशः द् और ध् होते हैं, वहाँ प्राकृत में द् का लोप और थ का ह होता है। "भ" धातु का शौरसेनी में "भो" ही रहता है, कि किंतु प्राकृत में वहाँ "हो" आदेश कहा गया है। शौरसेनी में नपुंसक बहुवचन के रूप में वहाँ

णि होता है, जैसे जलाणि, वाणणि, वहाँ प्राकृत के केवल इ रहता है, जैसे जलाइं, वणाइं शौरसेनी में दोला, दंड तथा दसण का आदि द् प्रकृति रूप रहता है, जबकि प्राकृत में वह ड् हो जाता है, जैसे डोला, डंड व डसण इत्यादि।

प्राकृतप्रकाश के पश्चात् प्राकृत तथा उसकी प्रादेशिक भाषाओं का सर्वांगपूर्ण निरूपण करने वाला, प्राकृत व्याकरण हेमचंद द्वारा 12वीं शती ई. में लिखा गया। इसके चार परिच्छेद हैं, जिनमें से लगभग साढ़े तीन परिच्छेदों में प्राकृत का सुव्यवस्थित विवरण दिया गया है और शेष लगभग 200 सूत्रों में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाए हैं। इन भाषाओं में से प्रथम तीन का स्वरूप तो अधिक विस्तृत रूप में वही है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। चूलिका पैशाची के लक्षण यहाँ चार सूत्रों में ये बतलाए गए हैं कि उसमें तीसरे और चौथे वर्णों के स्थान पर प्रथम और द्वितीय का आदेश होता है, र का ल् विकल्प से होता है, कुछ आचार्यो के मत से आदिवर्ण की ध्वनि में परिवर्तन नहीं होता, शेष बातें पैशाची के समान जाननी चाहिए।

प्राकृत साहित्य

मध्ययुगीन प्राकृतों का गद्य-पद्यात्मक साहित्य विशाल मात्र में उपलब्ध है। सबसे प्राचीन वह अर्धमागधी साहित्य है जिसमें जैन धार्मिक ग्रंथ रचे गए हैं तथा जिन्हें समष्टि रूप से जैनागम या जैनश्रुतांग कहा जाता है। इस साहित्य की प्राचीन परंपरा यह है कि अंतिम जैन तीर्थंकर महावीर का विदेह प्रदेश में जन्म लगभग 600 ई. पूर्व हुआ। उन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा ले ली और 12 वर्ष तप और ध्यान करके कैवल्यज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन्होने अपना धर्मोपदेश सर्वप्रथम राजगृह में और फिर अन्य नाना स्थानों में देकर जैन धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों को उनके जीवनकाल में ही उनके शिष्यों ने 12 अंगों में संकलित किया। उनके नाम हैं-

(1) आचारांग, (2) सूत्रकृतांग, (3) स्थानांग, (4) समयांग, (5) भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, (6) न्यायधर्म कथा (णायाधम्महाओ), (7) उपासकादशा, (8) अंतकृदशा, (9) अनुत्तेरोपपातिक (10) प्रश्न व्याकरण, (11) विपाक सूत्र और (12) दृष्टिवाद।

इन अंगों की भाषा वही अर्धमागधी प्राकृत है जिसमें महावीर ने अपने

उपदेश दिए। संभवत: यह आगम उस समय लिपिबद्ध नहीं किया गया एवं गुरु-शिष्य परंपरा से मौखिक रूप में प्रचलित रहा और यही उसके श्रुतांग कहलाने की सार्थकता है।

महावीर का निर्वाण 72 वर्ष की अवस्था में ई. पू. 527 में हुआ और उसके पश्चात् शीघ्र ही उक्त अंगों की परंपरा में विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होने लगीं। जैनधर्म के दिगंबर संप्रदाय की मान्यता है कि श्रुतांगों का क्रमश: ह्रास होते-होते उनका खंडशरू ज्ञान कुछ आचार्यो को रहा ओर उसके आधार से उन्होंने नए रूप में सैद्धांतिक ग्रंथ लिखे, जिनके प्राचीनतम उदाहरण कर्मप्राकृत (षठ्खंडागम) व कषायप्राकृत (कसायपाहुड) नामक सूत्र हैं। किंतु श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता है कि उक्त आगम ग्रंथों को उत्पन्न होती हुई विकृतियों से बचाने के लिये समय-समय पर मुनियों ने उनकी वाचनाएँ कीं और उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण से 160 वर्षो पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभदाचार्य की अध्यक्षता में हुई जिसमें 11 अंगों का संकलन किया गया। 12वें अंग का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी व्यवस्थित ज्ञान न होने से उसका उद्धार नहीं किया जा सका। जैन मुनियों की अपरिग्रह वृत्ति तथा वर्षाकाल को छोड़ निरंतर परिभ्रमण एवं उस काल की कठिनाइयों के कारण यह अंगज्ञान पुन: छिन्न-भिन्न होने लगा। आर्य स्कंदित ने मथुरा में मुनिसंघ का सम्मेलन किया और उन्हीं 11 अंगों को एक बार पुन: व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगर में मुनिसम्मेलन कराया और जैन आगम को वह रूप दिया जिसमें वह आज उपलब्ध है। इस वाचना में उपर्युक्त 11 अंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया जो इस कालावधि तक रचे जा चुके थे। ये थे - 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक और दो चूलिकाएँ। इस प्रकार वलभी वाचना के फलस्वरूप अर्धमागधी जैनागम के 45 ग्रंथ व्यवस्थित हो गए जो आज भी उपलब्ध हैं, तथा जिनका संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार है–

ग्यारह अंग

1. आचारंग - इस श्रुतग्रंथ में मुनियों के पालने योग्य सदाचार का विवरण दिया गया है। यह दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में 9 अध्ययन और उनके अंतर्गत 44 उद्देश्यक हैं। ग्रंथ का यह भाग मूल एवं भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से प्राचीनतम है। द्वि. श्रुतस्कंध इसकी चूलिका के

रूप में है और वह तीन चूलिकाओं एवं 16 अध्ययनों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध के नवमें उपधान नामक अध्ययन में महावीर की उग्र तपस्या एवं लाढ़ वज्रभूमि, शुभ्रभूमि आदि स्थानो में विहार करते हुए घोर उपसर्गो के सहने का मार्मिक वर्णन है।

2. सूत्रकृतांग – इसके भी दो श्रुतस्कंध हैं जिनमें क्रमशः 16 तथा 7 अध्ययन हैं1 प्रथम श्रुतांग प्रायः मद्यमय है और दूसरे में गद्य पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। इसमें प्राचीन काल के दार्शनिक वादों जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि का प्ररूपण तथा निराकरण किया गया है तथा श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, निर्ग्रंथ आदि के स्वरूप की व्याख्या की गई है। अंतिम अध्ययन नालदीय में महावीर के शिष्य गौतम तथा पार्श्वनाथ की परंपरा के उदक पेढ़ालपुत्र के बीच वार्तालाप और चातुर्याम धर्म के संबंध में विचार जैनधर्म की महावीर से पूर्वपरंपरा पर प्रकाश डालता है।

3. स्थानांग – इसमें 10 अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः एक से लेकर 10 तक की संख्यावाले पदार्थो का निरूपण किया गया है, जैसे एक दर्शन, एकचारित्र, एक समय, इत्यादि, दो क्रियाएँ जीव और अजीवय वृक्ष तीन प्रकार के पत्रेपेत, फलोपेत और पुष्पोपेत, तीन वेद ऋक्, यजु और साम इत्यादि। इस पद्धति से इस ग्रंथ में अनेक विषयों का बहुमुखी वर्णन आया है जो अपने ढंग का एक विश्वकोश ही है। उसकी यह शैली पालि त्रिपिटक के अंगुततर निकाय से समता रखती है।

4. समवायांग – यह भी स्थानांग के सदृश एकोत्तर क्रम से वस्तुओं का निरूपण करने वाला विश्वकोश है। विशेषता इसकी यह है कि इसमें संख्याक्रम क्रमशः बढ़ता हुआ शतों, सहस्रों, शतसहस्त्रों तथा कोटियों तक पहुँचाया गया है। यथास्थान इसमें जैन आगम तथा तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि त्रिरसठ शलाकापुरुषों का परिचय नामवली पद्धति से वर्णित है।

5. भगवती व्याख्या प्रज्ञाप्ति – यह रचना आकार और विषय की दृष्टि जैनागम में सबसे अधिक विशाल और महत्त्वपूर्ण है। इसमें 41 शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशक में विभाजित है। शैली प्रश्नोत्तरात्मक है। प्रश्नकर्ता हैं गौतम गणधर और उत्तरदाता स्वयं महावीर। टीकाकारों के अनुसार इसमें 36 सहस्र प्रश्नोत्तरों का समावेश है। दर्शन, आचार, इतिहास, भूगोल आदि समस्त विषयों पर किसी न किसी प्रसंग से प्रकाश डाला गया है। महावीरकाल की

राजनीतिक परिस्थिति और उस समय के घोर युद्ध आदि का वर्णन जैसा इस ग्रंथ में आया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।

6. न्याय धर्मकथा - इस अंग का प्राकृत नाम न्यायधम्मकहाओ है और उसका संस्कृत रूपांतर ज्ञातृ या ज्ञाताधर्मकथा भी किया जाता है जिसका अर्थ होता है ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर का धर्मोपदेश। विषय को देखते हुए इसका प्रथम नाम ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें कथाओं द्वारा किन्हीं न्यायों अर्थात नीतिवाक्यों का स्पष्टीकरण किया गया है।

7. उपासकदशा - नामानुसार इसमें भी उपासक, कामदेव, चुलणीप्रिय आदि दस ऐसे उपासकों के चरित्र वर्णित हैं जिन्होंने कठिनाइयों के बीच धर्मपालन किया।

8. अंतकृदद्शा - नामानुसार इसमें भी उपासक दशा के समान दस अध्ययन ही रहे होंगे। किंतु वर्तमान में यहाँ आठ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग अनेक अध्ययनों में विभाजित हैं। इसमें ऐसे साधुओं के चरित्र वर्णित किए गए हैं, जिन्होंने तपस्या द्वारा संसार का अंत कर निर्वाण प्राप्त किया।

9. अनुत्तरोपपातिक दशा - इसमें ऐसे मुनियों के चरित्र वर्णित हैं जिन्हें अपनी तपस्या के बीच घोर उपसर्ग सहन करने पड़े और उन्होंने मरकर उन अनुत्तर नामक स्वर्गो में जन्म लिया जहाँ से केवल एक बार पुनः मनुष्य जन्म धारण कर निर्वाण प्राप्त किया जाता है।

10. प्रश्नव्याकरण - ग्रंथ के नाम से तथा स्थानांग एवं समवायांग से प्राप्त इस श्रुतांग के विषयपरिचय से ज्ञात होता है कि इसमें मूलतः प्रश्नोत्तर के रूप में नाना सिद्धांतों की व्याख्या की गई थी। किंतु वर्तमान में ऐसा न होकर इसके प्रथम खंड में हिंसादि पाँच पापों का और दूसरे खंड में अहिंसादि व्रतों का प्ररूपण पाया जाता है।

11. विपाकसूत्र - इसमें दो श्रुतस्कंध हैं और प्रत्येक में दस दस-अध्ययन हैं। इसमें जीव के अच्छे और बुरे कर्मो से फलित होने वाले सुख दुःखों का बड़ा वैचित्र्य है जिसमें जीवन की सभी दशाओं का वर्णन आ गया है। जैनधर्म के कर्मसिद्धांतनुसार जीवन के समस्त अनुभव सुकर्म एवं दुष्कर्मों के परिणाम ही हैं। इसका इस श्रुतांग में विस्तार से प्ररूपण पाया जाता है।

बारह उपांग

(1) औपपातिक में नाना साधनाओं द्वारा पुनर्जन्म के स्वरूप का नाना उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इसकी यह भी एक विशेषता है कि जिन

नगर, राजा, चैत्य आदिक का अन्यत्र संकेत मात्र पाया जाता है, उसका यहाँ पूरा वर्णन मिलता है।

(2) रायपसेणिज्जं – इसका संस्कृत रूपांतर राजप्रश्नीय किया जाता है, किंतु संभवत: उसका संबंध कोशलनरेश प्रसेनजित से रहा है जो पहले भौतिकवादी था, किंतु पश्चात् केशी मुनि के उपदेश से सम्यगदृष्टि बन गया। यह ग्रंथ पालि "मिलिंद पंहो" से तुलनीय है।

(3) जीवाजीवाभिगम – में नामानुसार प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेदप्रभेदों का वर्णन किया गया है।

(4) प्रज्ञापना में जैन दर्शन की नाना व्यवस्थाओं का विवरण हुआ है, जिससे यह ग्रंथ भगवती के समान जैन सिद्धांत का ज्ञानकोश ही कहा जा सकता है।

(5) वें, (6) ठे और (7) वें उपांगों के नाम क्रमश: सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति और चंदप्रज्ञाप्ति हैं जिनमें उन लोकों का जैन मान्यतानुसार वर्णन किया गया है।

(8) कल्पिका व (9) कल्पावतंसिका में मगधराज श्रेणिक, उसके पुत्र अजातशत्रु एवं उसके पोत्रों के चरित्र वर्णित हैं जिन्होंने अपने अपने कर्मानुसार नरक तथा स्वर्गगतियाँ प्राप्त कीं।

(10) पुष्पिका एवं (11) पुष्पचूला में अनेक स्त्री पुरुषों की धार्मिक साधना, स्वर्गसुखों और महावीर की वंदना के लिये आगमन का वर्णन है।

(12) वृष्णिदशा में द्वारावती के राजा कृष्णवासुदेव एवं तीर्थकर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है।

छह छेदसूत्र

(1) निशीथ, (2) महानिशीथ, (3) व्यवहार, (4) आचारदशा, (5) कल्पसूत्र और (6) पंचकल्प।

इनमें मुनियों की साधनाओं एवं व्रतों का भंग होने पर प्रायश्चित्त का विचार किया गया है। इन सबमें कल्पसूत्र का सबसे अधिक प्रचार है। मुनि आचार के अतिरिक्त इसमें महावीर तथा ऋषभदेव, नेमिनाथ और पर्श्वनाथ के चरित्र भी वर्णित हैं।

चार मूलसूत्र

(1) उत्तराध्ययन, (2) दश्वैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति

इन सभी में मुख्यतया मुनि आचार का वर्णन है। इनमें उत्तराध्ययन की बड़ी प्रतिष्ठा है।

दस प्रकीर्णक

(1) चतु:शरण (2) आतुर प्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान (4) भक्त परिज्ञा, (5) तंदुलवैचारिक, (6) संस्तारक (7) गच्छाचर, (8) गणिविद्य, (9) देवंदस्तव और (10) मरणसमाधि।

ये सभी प्राय: पद्यात्मक हैं और इनमें मुनियों के पालने योग्य नीति का उपदेश दिया गया है।

दो चूलिका सूत्र

(1) नंदी और (2) अनुयोगद्वार।

नंदी में ज्ञान के भेदों व श्रुतांगों का विस्तार से वर्णन है तथा अनुयोगद्वार में प्रश्नोत्तरों के रूप में नाना विषयों का परिचय कराया गया है जिसमें रसों व संगीत आदि का भी समावेश है।

उपरोक्त ही 45 जैनधार्मिक ग्रंथ हैं जो उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य कहा जा सकता है। इन ग्रंथों पर निर्युक्ति, चूर्ण, टीका, भाष्य, वृत्ति आदि व्याख्यात्मक विशाल साहित्य प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में पद्य और पद्यात्मक है। समस्त निर्युक्तियाँ भदबाहुकृत व चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर कृत मानी जाती हैं। इनके भीतर जैन सिद्धांत के विवेचन के अतिरिक्त आख्यानात्मक रचनाओं का बड़ा वैपुल्य है जो साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

दिगंबर संप्रदाय में इन 45 आगम ग्रंथों की मान्यता और प्रचार नहीं है। उस परंपरा में लुप्त हुए द्वादशांग श्रुत के आधार से शौरसेनी प्राकृत में स्वतंत्र साहित्य का निर्माण हुआ जिसकी सर्वप्राचीन रचनाएँ पुष्पदंत और भूतबलिकृत कर्मप्राभृत नामक ग्रंथ हैं। इनमें जैन कर्मसिद्धांत का बड़ी व्यवस्था तथा सूक्ष्मता से प्ररूपण किया गया है। इनका रचनाकाल महावीर निर्वाण के 683 वर्ष के शीघ्र ही पश्चात् हुआ सिद्ध होता है। इनपर समय-समय पर अनेक टीकाएँ प्राकृत तथा संस्कृत में लिखी गईं, जिनमें से वर्तमान में सुप्रसिद्ध धवल और जयधवल नामक टीकाएँ

हैं जिनके कर्ता वीरसेन और जिनसेन राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (9वीं शती) के प्रायः समकालीन थे। प्राचीनता में कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के पश्चात् कुंदकुंदाचार्यकृत 12-13 शौरसेनी पद्यात्मक रचनाएँ हैं जिनमें प्रधान हैं–प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय और नियमसार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार, पंचास्तिका और नियमासार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार में जैसा आध्यामिक विवेचन किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता।

जैन परंपरा का कथात्मक साहित्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त जैन परंपरा का बहुत सा कथात्मक साहित्य भी प्राकृत में पाया जाता है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना विमलसूरिकृत पउमचरियं (पद्मचरितम्) है जिसमें कर्ता ने अपने ग्रंथ की समाप्ति का समय दुषमा काल के 530 (वीर निर्वाण 534) वर्ष पश्चात् अर्थात ई. सन् 7 सूचित किया है। किंतु विद्वानों को इसकी वास्तविकता में संदेह होता है और वह मुख्यतः इस आधार पर कि ग्रंथ में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप मिलता है वह मध्ययुग के दूसरे स्तर का है, जिसका विकासकाल ई. सन् की दूसरी तीसरी शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। यहाँ हमें भाषा की वे सब प्रवृत्तियाँ पुष्ट रूप से दिखाई देती हैं और जिन्हें प्रायः महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण माना जाता है। पउमचरियं में सात अधिकार हैं जो 118 उद्देश्यों में विभाजित हैं। समस्त रचना पद्यात्मक है। छंद गाथा है किंतु स्थान-स्थान पर छंदवैचित्र्य भी पाया जाता है। शैली सरस और सरल है तथा उसमें कथात्मकता ही प्रधान है। मूल कथा वाल्मीकि कृत रामायण के सदृश है, किंतु अवांतर बातों में उससे बहुत भिन्नता भी है, जैसे सीता का एक भाई भामंडल भी था, राम ने बर्बर जातियों के मिथिला पर आक्रमण होने पर जनक की सहायता की थी और इसी के उपलक्ष में जनक ने सीता को उन्हें अर्पित करने का संकल्प किया था। सुग्रीव, हनुमान आदि वानर नहीं थे, उनका ध्वजचिह्न वानर होने से वे वानरवंशी कहलाते थे। रावण के दशमुख नहीं थे, किंतु उसके प्राकृतिक एक मुख के अतिरिक्त नवरत्नमय हार में मुख के नव प्रतिबिंब दिखाई देने से वह दशानन कहलाने लगा था। उसकी मृत्यु राम के हाथ से नहीं, किंतु लक्ष्मण के हाथ से हुई। लक्ष्मण नारायण थे और राम बलदेव, इत्यादि।

प्राकृत में दूसरा जैन पुराण है–चउपन्नमहापुरिसरियं (चौपन महापुरुष चरित), जो शीलांकाचार्य द्वारा वि. सं. 925 में रचा गया था। यह प्रायः गद्यात्मक है और इसमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव और 9 वासुदेव – इन 54 महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। वहाँ रामकथानक में वाल्मीकिकृत रामायण से कुछ और बातें भी ली गई हैं, जो पउमचरियं में नहीं हैं। प्राकृत गद्य में रचित एक और महापुराण भदेश्वरकृत कथावलि (12वीं शती) है, जिसमें उपर्युक्त 54 महापुरुषों के अतिरिक्त 9 प्रतिवासुदेवों के चरित्र सम्मिलित होने से समस्त 63 शलाकापुरुषों के चरित्र भी काव्य की रीति से वर्णित पाए जाते हैं। इनमें वर्धमानसूरिकृत आविनाथचरित, सोमप्रभकृत सुमतिनाथचरित, देवसूरिकृत पद्मप्रभचरित, नेमिचंदकृत अनंतनाथचरित, देवंदगणिकृत वर्धमान चरित आदि अनेक विशाल रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। ये रचनाएँ प्रायः 12वीं, 13वीं शती ई. की हैं, इनकी भाषा वही प्राकृत है जिसका प्राकृत व्याकरणों में परिचय पाया जाता है और जिसे पाश्चात्य विद्वानों के "जैन महाराष्ट्रों" की संज्ञा प्रदान की है।

पादलिप्तसूरिकृत तरंगवतीकथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यह मूल ग्रंथ पद्य अप्राप्य है, किंतु इसके आधार से निर्मित नेमिचंदकृत तरंगलीला (15वीं शती ई.) नामकरचना उपलब्ध है। इसका कथानक एक उपन्यास है, जिसमें पात्रों के अनेक जन्मों का वृत्तांत गुथा हुआ है और वह बाणकृत कादंबरी का स्मरण कराता है।

प्राकृत गद्य साहित्य में हरिभदसूरिकृत समरादित्यकथा (8वीं शती ई.) का विशेष स्थान है। यह धर्मकथा है जिसमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के नौ जन्मांतरों का क्रमशः वर्णन किया गया है। विद्वेषी पुरुष प्रत्येक जन्म में अपने वैरी से ईर्ष्या भाव के कारण उत्तरोत्तर अधोगति को प्राप्त होता है और चत्रिनायक अपने मन तथा चारित्र्य को उत्तरोत्तर शुद्ध बनाता हुआ अंतिम भाव में समरादित्य नाम का राजा होकर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। नौ ही भवों के कथानक अपने अपने रूप में स्वतंत्र और परिपूर्ण हैं तथा उनमें मानवीय भावनाओं तथा समाज के नाना स्तरों का सुंदर चित्रण पाया जाता है। हरिभद की दूसरी उल्लेखनीय प्राकृत रचना है – धूर्ताख्यान। इसके पाँच आख्यानों में पाँच धूर्तों ने अपने अपने ऐसे कथानक सुनाए हैं जिनसे अनेक पौराणिक अतिशयोक्तिपूर्ण वृत्तांतों की व्यंग्यात्मक आलोचना होती है। इस प्रकार यह पद्यात्मक रचना प्राकृत में ही नहीं, किंतु प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यंग्यकथा का एक अपूर्व उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक कथा उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई. सन् 778) है। इसमें नायिका तथा उसके अन्य साथियों के तीन-चार जन्मांतरों का वर्णन अति रोचकता के साथ ग्रथित किया गया है।

धनेश्वरसूरिकृत सुरसुंदरीचरित्र (11वीं शती ई.)। गाथात्मक कथानक है जिसमें अनेक संयोग और वियोगात्मक प्रेमाख्यान ग्रथित हैं। महेश्वरसूरिकृत ज्ञानपंचमीकथा (11वीं शती ई.) में दश धार्मिक कथाओं का समावेश हुआ है। हेमचंदकृत कुमारपालचरित (12वीं शती ई.) आठ सर्गों का एक काव्य है जिसमें कर्ता के समकालीन गुजरात के राजा कुमारपाल के चरित्रवर्णन के साथ-साथ कवि ने अपने प्राकृत व्याकरण के नियमों को उसी क्रम से उदाहृत किया है। इस प्रकार यह संस्कृत के भट्टिकाव्य का स्मरण दिलाता है जिसमें पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं, यद्यपि यहाँ वे उदाहरण उस प्रकार क्रमबद्ध नहीं हैं जैसे कुमारपालचरित्र में। देवेंदसूरिकृत श्रीपालचरित (14वीं शती), देवंदगणिकृत रत्नचूडारायचरित, सुमतिसूरिकृत जिनदत्ताख्यान तथा जिनहर्षगणिकृत रत्नशेखरीकथा आदि अनेक प्राकृत कथानक जैन साहित्य में उपलब्ध हैं तथा इनके अतिरिक्त व्रतकथाओं के रूप में बहुत सी लघु कथाएँ भी प्राप्त हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत

दंडी ने अपने काव्यादर्श नामक अलंकार शास्त्र में महाराष्ट्री को सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है–

सहाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृतष्टं प्राकृतं विदुरू।
सागररू सूक्तिरत्नानां सेतुबंधादि यन्मयम्।

इससे प्राकृत भाषा और साहित्य के संबंध की दो महत्त्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं- एक तो यह कि दंडी के समय (छठी सातवीं शती) में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप विकसित होकर काव्यरचना में उतरने लगा था, उसी का नाम महाराष्ट्री प्राकृत प्रसिद्ध हुआ और दूसरी यह कि इसी प्राकृत में सेतुबंध और उसी के सदृश अन्य भी कुछ रचनाएँ उस समय प्रसिद्ध हो चुकी थीं। सौभाग्यत: दंडी द्वारा उल्लिखित सेतुबंध काव्य अब भी उपलब्ध है और प्राकृत की एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसका उल्लेख वाणभट्ट ने भी हर्षचरित को उत्थानिका में इस प्रकार किया है–

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्जवला।
सागरस्य परं पारं कपिसैनैव सेतुना॥

इससे सिद्ध होता है कि इस सेतुबंध के कर्ता का नाम प्रवरसेन था और बाण के समय (सातवीं शती का मध्य) तक इसकी कीर्ति समुद्रपार संभवतः लंका तक पहुँच चुकी थी। इसका नाम रावणवध या दशमुखवध भी पाया जाता है। कहीं-कहीं इसके कर्ता कालिदास भी कहे गए हैं। इस संबंध के समस्त उल्लेखों के विवेचन से यह बात प्रमाणित होती है कि इस काव्य के कर्ता वाकाटकवंशी राजा रुद्रसेन के पुत्र प्रवरसेन ही हैं। उनके पिता की मृत्यु उनके बाल्यकाल में ही हो गई थी और उनकी माता प्रभावती गुप्ता राज्य का कार्य सँभालती थीं। प्रभावती गुप्ता सम्राट् चंदगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री थीं। इसीलिये गुप्त सम्राट् ने अपनी सभा के महाकवि कालिदास को कुछ काल के लिये उनके सहायतार्थ भेजा था। अनुमानतः उसी बीच यह काव्यरचना हुई और कालिदास ने उसका कुछ संशोधन भी किया होगा। इस बात का कुछ आभास हमें काव्य के आदि में ही सातवीं गाथा में मिलता है। इन बातों से यह रचना गुप्तसम्राट् चंदगुप्त द्वितीय के राज्यकाल (ई. सन् 380 से 413) की सिद्ध होती है। इस काव्य में 15 आश्वास हैं और प्रत्येक आश्वास के अंतिम पद्य में कवि ने अपने को अनुरागअंक या अनुरागचिह्न द्वारा सूचित किया है। काव्य का कथानक सीता अपहरण के पश्चात् प्रारंभ होता है, जब राम वियोग की व्यथा में हैं। सुग्रीव की सहायता से हुनमान द्वारा लंका में सीता का पता लगाया गया और फिर राम लक्ष्मण वानरसेना सहित लंका पर आक्रमण करने के लिये निकले, किंतु समुद्रतट पर आकर एक बड़ी समस्या समुद्र पार करने की उपस्थित हुई। बड़े प्रयत्न से उस पर सेतु बनाया गया, सेना पार हुई, युद्ध में रावण मारा गया, तथा सीता की अग्निपरीक्षा के पश्चात् उन्हें साथ ले राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौट आए। कथानक वाल्मीकि रामायण का ही अनुसरण करता है, किंतु प्रकृति तथा घटनाओं का वर्णन कवि का अपना है। शैली समास और अलंकार प्रचुर है।

दंडी ने महाराष्ट्री को जो सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है, उससे उनका तात्पर्य संभवतः सेतुबंध के अतिरिक्त गाथासप्तशती से है जिसका उल्लेख बाण ने हर्षचरित में इस प्रकार किया है–

अविनाशिनमग्राह्यमकरोत्सातवाहनरू।
विशुद्ध जातिभिरू कोषं रत्नेखिसुभाषितैरू॥ (हर्षचरित 13)

इसके अनुसार सातवाहन ने सुंदर सुभाषितों का एक कोश निर्माण किया था। आदि में यह कोश सुभाषितकोश या गाथाकोश के नाम से ही प्रसिद्ध था। पीछे क्रमशः सात सौ गाथाओं का समावेश हो जाने पर उसकी सप्तशती नाम से प्रसिद्ध हुई। सातवाहन, शालिवाहन या हाल नरेश भारतीय कथासाहित्य में उसी प्रकार ख्यातिप्राप्त हैं जैसे विक्रमादित्य। वात्स्यायन तथा राजशेखर ने उन्हें कुंतल का राजा कहा है और सोमदेवकृत कथासरित्सागर के अनुसार वे नरवाहनदत के पुत्र थे तथा उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठण) थी। पुराणों में आंध्र भृत्यों की राजवंशावली में सर्वप्रथम राजा का नाम सातवाहन तथा सत्रहवें नरेश का नाम हाल निर्दिष्ट किया गया है। इन सब प्रमाणों से हाल का समय ई. की प्रथम दो, तीन शतियों के बीच सिद्ध होता है और उस समय गाथा सप्तशती का कोश नामक मूल संकलन किया गया होगा। राजशेखर के अनुसार सातवाहन ने अपने अंतःपुर में प्राकृत भाषा के ही प्रयोग का नियम बना दिया था। एक जनश्रुति के अनुसार उन्हीं के समय में गुणाढ्य द्वारा पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा रची गई, जिसके अब केवल संस्कृत रूपांतर बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर मिलते हैं। गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा अपने रूप में परिपूर्ण है और किसी मानवीय भावना, व्यवहार या प्राकृतिक दृश्य का अत्यंत सरसता और सौंदर्य से चित्रण करती है। शृंगार रस की प्रधानता है, किंतु हास्य, कारुण्य आदि रसों का भी अभाव नहीं है। प्रकृति चित्रण में विंध्यपर्वत और गोला (गोदावरी) नदी का नाम पुनः-पुनः आता है। ग्राम, खेत, उपवन, झाड़ी, नदी, कुएँ, तालाब आदि पर पुरुष स्त्रियों के विलासपूर्ण व्यवहार एव भावभंगिमायों का जैसा चित्रण यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस संग्रह का पश्चात्कालीन साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के आदर्श पर जैन कवि जयवल्लभ ने "वज्जालग्गं" नामक प्राकृत सुभाषितों का संग्रह तैयार किया, जिसकी लगभग 800 गाथाओं में से कोई 80 गाथाएँ इसी कोश से उद्धृत की गई हैं। संस्कृत में गोवर्धनाचार्य (11वीं-12वीं शती) ने इसी के अनुकरण पर आर्यासप्तशती की रचना की। हिंदी में तुलसीसतसई और बिहारी सतसई संभवतः इसी रचना से प्रभावित हुई हैं।

प्राकृत में जिस प्रकार सेतुबंध की ख्याति काव्य की दृष्टि से रही है, उसी प्रकार लीलावती की प्रसिद्धि कथा की दृष्टि से पाई जाती है। भोजदेव, हेमचंद, वाग्भट्ट आदि संस्कृत के अलंकार शास्त्रकारों ने गद्यमयी कथा का उदाहरण कादम्बरी और पद्यमयी कथा का लीलावती को दिया है। उद्योतनसूरि ने अपनी

कुवलयमाला नामक कथा में कौतूहलकृत प्राकृत भाषा रचित एवं मरहट्ठ देशीवचन निबद्ध शुद्ध सकलकथा का उल्लेख किया है, जिससे इसी रचना का अभिप्राय सिद्ध होता है। उससे इसके कर्ता का नाम कौतूहल और रचनाकाल 778 ई. से पूर्व का निश्चय हो जाता है। यह रचना कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाश में आई है (भारतीय विद्याभवन, बंबई 1949) इसमें कोई परिच्छेदादि विभाग नहीं हैं। लगातार 13000 से कुछ अधिक गाथाओं में कथा समाप्त हुई है। 1330वीं गाथा में कवि ने स्वयं कहा है कि उन्होंने इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की है (रइयं मरहट्ठ देसि भासाए)। इस कथा के नायक अस्मक देश के प्रतिष्ठाननगर के राजा सातवाहन हैं। एक महा घटनाचक्र के पश्चात् उनका विवाह सिंहल के राजा शिलामेघ की राजकुमारी लीलावती से हुआ। उनके मंत्रियों के नाम यहाँ पोट्सि और कुमारिल बतलाए गए हैं। ये दोनों नाम गाथासप्तशती व गाथाओं के कर्ताओं में भी पाए जाते हैं। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि इस कथा के कर्ता सातवाहन, शालिवाहन या हाल ही हैं ये तीनों ही नाम इस कथा में यत्र-तत्र आए हैं। कथा बड़ी सरल और सरस शैली में वर्णित है।

महाराष्ट्री प्राकृत का एक उत्कृष्ट काव्य है गउडवहो (गौडवध) जिसके कर्ता वाक्पतिराज ने अपने को कान्यबुज नरेश यशोवर्मा का समकालीन कहा है। उन्होंने भास, संबंधु, हरिच एवं भवभूति आदि कवियों का उल्लेख भी किया है। इन सब लेखों पर से इनका समय 8 वीं शती ई. अनुमान किया जा सकता। इस काव्य में भी कोई परिच्छेद नहीं है। लगातार 1200 से कुछ ऊपर गाथाएँ हैं, जिनमें राजा यशोवर्मा के प्रताप और उनकी जययात्रा तथा गौड़देश के राजा के वध का वर्णन किया गया है।

प्राकृत काव्यरचना की परंपरा 18वीं शती तक बताई जाती है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत कवि हैं रामपाणिवाद (ई. 1707 से 1775) जिनकी दो प्राकृत रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं। एक है कंसवहो (कंसवध) जिसके चार सर्गो में उद्धव के द्वारा कृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाने और उनके द्वारा कंस की मृत्यु का वर्णन भागवत की कथा के आधार किया गया है। शैली में कालिदास, भारवि तथा माघ की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। रामपाणिवाद का दूसरा प्राकाव्य है उषानिरुद्धं, जिसमें प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का बाणाकी पुत्री उषा से विवाह का वर्णन चार सर्गो में किया गया है। यह कथानक भी भागवतादि पुराणों पर आश्रित है, किंतु कवि ने अपनी काव्यप्रतिभा से अच्छा सजाया है। सुदूरवर्ती केरल में 18वीं शती में शुद्ध प्राकृत

की ये काव्यरचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि प्राकृत के पठन-पाठन तथा काव्यसृजन का प्रवाह परिस्थिति के अनुसार तीव्र और मंद भले ही पड़ा हो, किंतु वह सर्वथा सूखा नहीं है।

प्राकृत साहित्य का महत्त्व

इस प्रकार प्राकृत साहित्य अपने रूप एवं विषय की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा भारतीय संस्कृति के सर्वांग परिशीलन के लिये उसका स्थान अद्वितीय है। उसमें उन लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता है जिन्होंने वैदिक काल एवं संभवत: उससे भी पूर्वकाल से लेकर देश के नाना भागों को गंगा यमुना आदि महानदियों के अनुमान प्लावित किया है और उसकी साहित्यभूमि को उर्वरा बनाया हैं। ई. पूर्व छठी शती से लेकर प्राय: वर्तमान तक प्राकृत भाषाओं में ग्रंथरचना होती चली आई है, यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से उन भाषाओं का विकास ई. सन् 1000 तक ही माना जाता है, क्योंकि उसके पश्चात् हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि आधुनिक भाषाओं का युग प्रारंभ होता है। मगध से लेकर दरद प्रदेश (पश्चिमोत्तर भारत) तथा हिमालय से लेकर सिंहल द्वीप तक की नानाविध लोकभाषाओं का स्वरूप प्राकृत में सुरक्षित है। इस साहित्य का बहु भाग यद्यपि जैनधर्म विषयक है, तथापि उसमें तत्कालीन लोकजीवन ऐसा प्रतिबिंबित है जैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें नानाकालीन एवं नानादेशीय ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि महत्त्वपूर्ण झाँकियाँ दिखाई देती हैं जिनका भारतीय इतिहास में यथोचित मूल्यांकन करना अभी शेष है। भाषाओं के अतिरिक्त देश के धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विकास की परम्परा और उसकी गुत्थियों को स्पष्टता से समझने में इस साहित्य से बहुमूल्य सहायता मिल सकती है। यह महत्त्वपूर्ण साहित्य अभी तक पूर्णत: प्रकाशित नहीं हो सका है। जितना भाग प्रकाशित हुआ है उसका भी समालोचनात्मक रीति से संपादन बहुत कम हुआ है वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन भी बहुत शेष है।

संस्कृत व्याकरण का इतिहास

संस्कृत का व्याकरण वैदिक काल में ही स्वतंत्र विषय बन चुका था। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात - ये चार आधारभूत तथ्य यास्क (ई. पू. लगभग 700) के पूर्व ही व्याकरण में स्थान पा चुके थे। पाणिनि (ई. पू. लगभग 550) के पहले कई व्याकरण लिखे जा चुके थे जिनमें केवल आपिशलि और

काशकृत्स्न के कुछ सूत्र आज उपलब्ध हैं। किंतु संस्कृत व्याकरण का क्रमबद्ध इतिहास पाणिनि से आरंभ होता है।

व्याकरण शास्त्र का वृहद् इतिहास है किन्तु महामुनि पाणिनि और उनके द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी ही इसका केन्द्र बिन्दु हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 3995 सूत्रों की रचनाकर भाषा के नियमों को व्यवस्थित किया जिसमें वाक्यों में पदों का संकलन, पदों की प्रकृति, प्रत्यय विभाग एवं पदों की रचना आदि प्रमुख तत्त्व हैं। इन नियमों की पूर्ति के लिये धातु पाठ, गण पाठ तथा उणादि सूत्र भी पाणिनि ने बनाये। सूत्रों में उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का विचार कर कात्यायन ने वार्तिक की रचना की। बाद में महामुनि पतंजलि ने महाभाष्य की रचना कर संस्कृत व्याकरण को पूर्णता प्रदान की। इन्हीं तीनों आचार्यों को 'त्रिमुनि' के नाम से जाना जाता है। प्राचीन व्याकरण में इनका अनिवार्यत: अधययन किया जाता है।

नव्य व्याकरण के अन्तर्गत प्रक्रिया क्रम के अनुसार शास्त्रों का अधययन किया जाता है जिसमें भट्टोजीदीक्षित, नागेश भट्ट आदि आचार्यों के ग्रन्थों का अधययन मुख्य है। प्राचीन व्याकरण एवं नव्य व्याकरण दो स्वतंत्र विषय हैं।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनि ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत दोनों के लिए अष्टाध्यायी की रचना की। अपने लगभग चार हजार सूत्रों में उन्होंने सदा के लिए संस्कृत भाषा को परिनिष्ठित कर दिया। उनके प्रत्याहार, अनुबंध आदि गणित के नियमों की तरह सूक्ष्म और वैज्ञानिक हैं। उनके सूत्रों में व्याकरण और भाषाशास्त्र संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश है।

कात्यायन (ई. पू. लगभग 300) ने पाणिनि के सूत्रों पर लगभग 4295 वार्तिक लिखे। पाणिनि की तरह उनका भी ज्ञान व्यापक था। उन्होंने लोकजीवन के अनेक शब्दों का संस्कृत में समावेश किया और न्यायों तथा परिभाषाओं द्वारा व्याकरण का विचारक्षेत्र विस्तृत किया।

कात्यायन के वार्तिकों पर पतंजलि (ई. पू. 150) ने महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य आकर ग्रंथ है। इसमें प्राय: सभी दार्शनिक वादों के बीज हैं। इसकी शैली अनुपम है। इसपर अनेक टीकाएँ मिलती हैं जिनमें भर्तृहरि की त्रिपदी, कैयट का प्रदीप और शेषनारायण का "सूक्तिरत्नाकर" प्रसिद्ध हैं। सूत्रों के अर्थ, उदाहरण आदि समझाने के लिए कई वृत्तिग्रंथ लिखे गए थे जिनमें

काशिका वृत्ति (छठी शताब्दी) महत्त्वपूर्ण है। जयादित्य और वामन नाम के आचार्यों की यह एक रमणीय कृति है। इसपर जिनेंदबुद्धि (लगभग 650 ई.) की काशिकाविवरणपंजिका (न्यास) और हरदत्त (ई. 1200) की पदमंजरी उत्तम टीकाएँ हैं। काशिका की पद्धति पर लिखे गए ग्रंथों में भागवृत्ति (अनुपलब्ध), पुरुषोत्तमदेव (ग्यारहवीं शताब्दी) की भाषावृत्ति और भट्टोजि दीक्षित (ई. 1600) का शब्दकौस्तुभ मुख्य हैं।

पाणिनि के सूत्रों के क्रम बदलकर कुछ प्रक्रियाग्रंथ भी लिखे गए जिनमें धर्मकीर्ति (ग्यारहवीं शताब्दी) का रूपावतार, रामचंद (ई. 1400) की प्रक्रियाकौमुदी, भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी और नारायण भट्ट (सोलहवीं शताब्दी) का प्रक्रियासर्वस्व उल्लेखनीय हैं। प्रक्रियाकौमुदी पर विट्ठलकृत "प्रसाद" और शेषकृष्णरचित "प्रक्रिया प्रकाश" पठनीय हैं। सिद्धांतकौमुदी की टीकाओं में प्रौढ़मनोरमा, तत्त्वबोधिनी और शब्देंदुशेखर उल्लेखनीय हैं। प्रौढमनोरमा पर हरि दीक्षित का शब्दरत्न भी प्रसिद्ध है।

नागेश भट्ट (ई. 1700) के बाद व्याकरण का इतिहास धूमिल हो जाता है। टीकाग्रंथों पर टीकाएँ मिलती हैं। किसी किसी में न्यायशैली देख पड़ती है। पाणिनिसंप्रदाय के पिछले दो सौ वर्ष के प्रसिद्ध टीकाकारों में वैद्यनाथ पायुगुंड, विश्वेश्वर, ओरमभट्ट, भैरव मिश्र, राधावेंदाचार्य गजेंदगडकर, कृष्णमित्र, नित्यानंद पर्वतीय एवं जयदेव मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

अ-पाणिनीय व्याकरण

पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त संस्कृत के जो अन्य व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं वे सभी पाणिनि की शैली से प्रभावित हैं। अवश्य ऐंद व्याकरण को कुछ लोग पाणिनि के पूर्व का मानते हैं। किंतु यह मत असंदिग्ध नहीं है। बर्नल के अनुसार ऐंद व्याकरण का संबंध कातंत्र से और तमिल के प्राचीनतम व्याकरण तोल्काप्पियम से है। ऐंद व्याकरण के आधार पर सातवाहन युग में शर्व वर्मा ने कातंत्र व्याकरण की रचना की। इसके दूसरे नाम कालापक और कौमार भी हैं। इसपर दुर्गासिंह की टीका प्रसिद्ध है। चांद व्याकरण चंदगोमी (ई. 500) की रचना है। इस पर उनकी वृत्ति भी है। इसकी शैली से काशिकाकार प्रभावित हैं। जैनेंद्र व्याकरण जैन आचार्य देवनंदी (लगभग छठी शताब्दी) की रचना है। इसपर अभयनंदी की वृत्ति प्रसिद्ध है। उदाहरण में जैन संप्रदाय के शब्द मिलते हैं। जैनेंद व्याकरण के आधार पर किसी जैन आचार्य ने 9वीं शताब्दी में शाकटायन

व्याकरण लिखा और उसपर अमोघवृत्ति की रचना की। इसपर प्रभावचंदाचार्य का न्यास और यक्ष वर्मा की वृत्ति प्रसिद्ध हैं। भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) का सरस्वती कंठाभरण व्याकरण में वार्तिकों और गणपाठों को सूत्रों में मिला दिया गया है। पाणिनि के अप्रसिद्ध शब्दों के स्थान पर सुबोध शब्द रखे गए हैं। इसपर दंडनाथ नारायण की हृदयहारिणी टीका है। सिद्ध हेम अथवा हेम व्याकरण आचार्य हेमचंद (ग्यारहवीं शताब्दी) रचित है। इसमें संस्कृत के साथ साथ प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण का भी समावेश है। इसपर ग्रंथकार का न्यास और देवेंद सूरि का लघुन्यास उल्लेखनीय हैं। सारस्वत व्याकरण के कर्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य (तेरहवीं शताब्दी) हैं। इसपर सारस्वत प्रक्रिया और रघुनाथ का लघुभाष्य ध्यान देने योग्य हैं। इसका प्रचार बिहार में पिछली पीढ़ी तक था। बोपदेव (तेरहवीं शताब्दी) का मुग्धबोध व्याकरण नितांत सरल है। इसका प्रचार अभी हाल तक बंगाल में रहा है। पद्मनाभ दत्त ने (15वीं शताब्दी) सुपद्य व्याकरण लिखा है। शेष श्रीकृष्ण (16वीं शताब्दी) की पदचंदिका एक स्वतंत्र व्याकरण है। इस पर उनकी पदचंदिकावृत्ति उल्लेखनीय है। क्रमदोश्वर का संक्षिप्तसार (जौमार) और रूपगोस्वामी का हरिनामामृत भी स्वतंत्र व्याकरण हैं। कवींदाचार्य के संग्रह में ब्रह्मव्याकरण, यमव्याकरण, वरुणव्याकरण, सौम्यव्याकरण और शब्दतर्कव्याकरण के हस्तलेख थे जिनके बारे में आज विशेष ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध किंतु अनुपलब्ध व्याकरणों में वामनकृत विश्रांतविद्याधर उल्लेखनीय है।

गणपाठ एवं धातुपाठ

प्रमुख संस्कृत व्याकरणों के अपने अपने गणपाठ और धातुपाठ हैं। गणपाठ संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों में वर्धमान (12वीं शताब्दी) का गणरत्नमहोदधि और भट्ट यज्ञेश्वर रचित गणरत्नावली (ई. 1874) प्रसिद्ध हैं। उणादि के विवरणकारों में उज्ज्वलदत्त प्रमुख हैं। काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड भाषा में प्रकाशित है। भीमसेन का धातुपाठ तिब्बती (भोट) में प्रकाशित है। पूर्णचंद का धातुपारायण, मैत्रेयरक्षित (दसवीं शताब्दी) का धातुप्रदीप, क्षीरस्वामी (दसवीं शताब्दी) की क्षीरतरंगिणी, सायण की माधवीय धातुवृत्ति, श्रीहर्षकीर्ति की धातुतरंगिणी, बोपदेव का कविकल्पदुम, भट्टमल्ल की आख्यातचंदिका विशेष उल्लेखनीय हैं। लिंगबोधक ग्रंथों में पाणिनि, वररुचि, वामन, हेमचंद, शाकटायन, शांतनवाचार्य, हर्षवर्धन आदि के लिंगानुशासन प्रचलित हैं। इस विषय की प्राचीन पुस्तक "लिंगकारिका" अनुपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण का दार्शनिक विवेचन

संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन व्याडि (लगभग ई. पू. 400) के "संग्रह" से आरंभ होता है जिसके कुछ वाक्य ही आज अवशेष हैं। भर्तृहरि (लगभग ई. 500) का वाक्यपदीय व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त इसपर वृषभदेव (छठी शताब्दी), पुण्यराज (नवीं शताब्दी) और हेलाराज (दसवीं शताब्दी) की टीकाएँ विश्रुत हैं। कौंडभट्ट (ई. 1600) का वैयाकरणभूषण और नागेश की वैयाकरण सिद्धांतमंजूषा उल्लेखनीय हैं। नागेश का स्फोटवाद, कृष्णभट्टमौनि की स्फोटचंदिका और भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि भी इस विषय के लघुकाय ग्रंथ हैं। सीरदेव की परिभाषावृत्ति, पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति, विष्णुशेष का परिभाषाप्रकाश और नागेश का परिभाषेंदुशेखर पठनीय हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में परिभाषेंदुशेखर पर लगभग 25 टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें गदा, भैरवी, भावार्थदीपिका के अतिरिक्त तात्या शास्त्री पटवर्धन, गणपति शास्त्री मोकाटे, भास्कर शास्त्री, वासुदेव अभ्यंकर, मन्युदेव, चिदूपाश्रय आदि की टीकाएँ हैं।

यूरोप के विद्वानों का योगदान

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में यूरोप के विद्वानों का भी योग है। पी. सासेती ने, जो 1583 से 1588 तक भारत में था, संस्कृत और इटली की भाषा का साम्य दिखलाया था। किन्तु संस्कृत का नियमबद्ध व्याकरण जर्मन-यहूदी जे. ई. हाक्सेलेडेन ने लिखा। उसकी अप्रकाशित कृति के आधार पर जर्मन पादरी पौलिनस ने 1790 में संस्कृत का व्याकरण प्रकाशित किया जिसका नाम "सिद्ध रुबम् स्यू ग्रामाटिका संस्कृडामिका" था। फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक डॉ. विलियम कैरे ने 1802 में संस्कृत का व्याकरण अँगरेजी में प्रकाशित किया। विलियम कोलब्रुक ने 1805 में, विलकिन्स ने 1808 में, फोरेस्टर ने 1810 में, संस्कृत के व्याकरण लिखे। 1823 में ओथमार फ्रांक ने लैटिन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा। 1834 में बोप्प ने जर्मन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा जिसका नाम "क्रिटिशे ग्रामाटिक डे संस्कृत स्प्राख" है। बेनफी ने 1863 में, कीलहार्न ने 1870 में, मॉनिअर विलियम्स ने 1877 में और अमरीका के विटनी ने 1879 में अपने संस्कृत व्याकरण प्रकाशित किए। एल. रेनो ने फ्रेंच भाषा में संस्कृत व्याकरण (1920) और वैदिक व्याकरण (1952) प्रकाशित किए। गणपाठ और धातुपाठ के संबंध में वेस्टरगार्द का रेडिसेज लिंग्वा संस्कृता

(1841), बोटलिंक का पाणिनि ग्रामाटिक (1887), लीबिश का धातुपाठ (1920) और राबर्ट बिरवे का "डर गणपाठ" (1961) उल्लेखनीय हैं। यूरोप के विद्वानों की कृतियों में मैकडोनेल का "वैदिक ग्रामर" (1910) और वाकरनागेल का "आल्ट्इंडिश ग्रामटिक" (3 भाग, 1896-1954) उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। अंग्रेजी में लिखित श्री काले का "हायर संस्कृत ग्रामर" भी प्रसिद्ध है।

संस्कृत व्याकरण का इतिहास पिछले ढाई हजार वर्ष से टीका टिप्पणी के माध्यम से अविच्छिन्न रूप में अग्रसर होता रहा है। इसे सजीव रखने में उन ज्ञात अज्ञात सहस्रों विद्वानों का सहयोग रहा है जिन्होंने कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा, किंतु अपना जीवन व्याकरण के अध्यापन में बिताया।

संस्कृत के व्याकरण ग्रन्थ और उनके रचयिता

संग्रह–व्याडि (लगभग ई. पू. 400, व्याकरण के दार्शनिक विवेचन का आदि ग्रन्थ)

अष्टाध्यायी–पाणिनि

महाभाष्य–पतंजलि

वाक्यपदीय–भर्तृहरि (लगभग ई. 500, व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ)

त्रिपादी (या, महाभाष्यदीपिका)–भर्तृहरि (महाभाष्य की टीका)

काशिकावृत्ति–जयादित्य तथा वामन (छठी शती)

वार्तिक–कात्यायन

प्रदीप–कैयट

सूक्तिरत्नाकर–शेषनारायण

भट्टिकाव्य (या, रावणवध)–भट्टि (सातवीं शती)

चान्दव्याकरण–चन्दगोमिन्।

कच्चान व्याकरण–कच्चान (पालि का प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरण)

मुखमत्तदीपनी–विमलबुद्धि (कच्चान व्याकरण की टीका तथा न्यास, 11वीं सदी)

काशिकाविवरणपंजिका (या, न्यास)–जिनेन्दबुद्धि (लगभग 650 ई., काशिकावृत्ति की टीका)

शब्दानुशासन–हेमचन्दाचार्य

पदमंजरी–हरदत्त (ई. 1200, काशिकावृत्ति की टीका)

सारस्वतप्रक्रिया–स्वरूपाचार्य अनुभूति

भागवृत्ति– (अनुपलब्ध, काशिका की पद्धति पर लिखित)

भाषावृत्ति–पुरुषोत्तमदेव (ग्यारहवीं शताब्दी)

सिद्धान्तकौमुदी–भट्टोजि दीक्षित (प्रक्रियाकौमुदी पर आधारित)

प्रौढ़मनोरमा–भट्टोजि दीक्षित (स्वरचित सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

वैयाकरणभूषणकारिका–भट्टोजि दीक्षित

शब्दकौस्तुभ–भट्टोजि दीक्षित (ई. 1600, पाणिनीय सूत्रों की अष्टाध्यायी क्रम से एक अपूर्ण व्याख्या)

बालमनोरोरमा–वासुदेव दीक्षित (सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

रूपावतार–धर्मकीर्ति (ग्यारहवीं शताब्दी)

मुग्धबोध–वोपदेव

प्रक्रियाकौमुदी–रामचन्द (ई. 1400)

मध्यसिद्धान्तकौमुदी–वरदराज

लघुसिद्धान्तकौमुदी–वरदराज

सारसिद्धान्तकौमुदी–वरदराज

प्रक्रियासर्वस्व–नारायण भट्ट (सोलहवीं शताब्दी)

प्रसाद–विट्ठल

प्रक्रियाप्रकाश–शेषकृष्ण

तत्त्वबोधिनी–ज्ञानेन्द सरस्वती (सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

शब्दरत्न–हरि दीक्षित (प्रौढ़मनोरमा की टीका)

मनोरमाकुचमर्दन–जगन्नाथ पण्डितराज (भट्टोजि दीक्षित के "प्रौढ़मनोरमा" नामक व्याकरण के टीकाग्रंथ का खंडन)

स्वोपज्ञवृत्ति–(वाक्यपदीय की टीका)

वैयाकरणभूषणसार–कौण्डभट्ट (ई. 1600)

वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा–नागेश भट्ट (व्याकरणदर्शन ग्रंथ)

परिभाषेन्दुशेखर–नागेश भट्ट (इस यशस्वी ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं।)

लघुशब्देन्दुशेखर–नागेश भट्ट (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)

बृहच्छब्देन्दुशेखर–नागेश भट्ट (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)

शब्देन्दुशेखर–नागेश भट्ट

वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजूषा–नागेश भट्ट

वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा–नागेश भट्ट

महाभाष्य-प्रत्याख्यान-संग्रह–नागेश भट्ट

उद्योत–नागेश भट्ट (पतंजलिकृत महाभाष्य पर टीकाग्रन्थ)
स्फोटवाद–नागेश भट्ट
स्फोटचन्दिका–कृष्णभट्टमौनि
स्फोटसिद्धि–भरतमिश्र
परिभाषावृत्ति–सीरदेव
परिभाषावृत्ति–पुरुषोत्तमदेव
परिभाषाप्रकाश–विष्णुशेष
गदा–परिभाषेन्दुशेखर की टीका
भैरवी–परिभाषेन्दुशेखर की टीका
भावार्थदीपिका–परिभाषेन्दुशेखर की टीका
हरिनामामृतव्याकरण–जीव गोस्वामी
परिमल–अमरचन्द

3

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएं

वैदिक साहित्य

स्रोत :- नंद मौर्य राजवंश वैदिक साहित्य हिन्दू धर्म के प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला तथा विश्व का प्राचीनतम् स्रोत है। वैदिक साहित्य को 'श्रुति' कहा जाता है, क्योंकि (सृष्टिधिनियम)कर्ता ब्रह्मा ने विराटपुरुष भगवान् की वेदध्वनि को सुनकर ही प्राप्त किया है। अन्य ऋषियों ने भी इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ही ग्रहण किया था।

वेद के मुख्य मन्त्र भाग को संहिता कहते हैं। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऊपर लिखे सभी वेदों के कई उपनिषद, आरण्यक तथा उपवेद आदि भी आते हैं जिनका विवरण नीचे दिया गया है। इनकी भाषा संस्कृत है जिसे अपनी अलग पहचान के अनुसार वैदिक संस्कृत कहा जाता है - इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग और अर्थ कालान्तर में बदल गए या लुप्त हो गए माने जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिन्दू-आर्य जाति के बारे में इनको एक अच्छा सन्दर्भ माना जाता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्त्व बना हुआ है।

रचना के अनुसार प्रत्येक शाखा की वैदिक शब्द-राशि का वर्गीकरण- चार भाग होते हैं। पहले भाग (संहिता) के अलावा हरेक में टीका अथवा भाष्य के तीन स्तर होते हैं। कुल मिलाकर ये हैं–

संहिता (मन्त्र भाग)

ब्राह्मण-ग्रन्थ (गद्य में कर्मकाण्ड की विवेचना)

आरण्यक (कर्मकाण्ड के पीछे के उद्देश्य की विवेचना)

उपनिषद (परमेश्वर, परमात्मा-ब्रह्म और आत्मा के स्वभाव और सम्बन्ध का बहुत ही दार्शनिक और ज्ञानपूर्वक वर्णन)

जब हम चार वेदों की बात करते हैं तो उससे संहिता भाग का ही अर्थ लिया जाता है। उपनिषद (ऋषियों की विवेचना), ब्राह्मण (अर्थ) आदि मंत्र भाग (संहिता) के सहायक ग्रंथ समझे जाते हैं। वेद 4 हैं–ऋक्, साम, यजुः और अथर्व।

वैदिक साहित्य का काल

इस विषय के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं कि वेदों की रचना कब हुई और उनमें किस काल की सभ्यता का वर्णन मिलता है। भारतीय वेदों को अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा न बनाया हुआ) मानते हैं अतः नित्य होने से उनके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पश्चिमी विद्वान इन्हें ऋषियों की रचना मानते हैं और इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उनमें पहली कल्पना मैक्समूलर की है। उन्होंने वैदिक साहित्य का काल 1200 ई. पू. से 600 ई. पू. माना है। दूसरी कल्पना जर्मन विद्वान मारिज विण्टरनित्ज की है। उसने वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का काल 2500-2000 ई. पू. तक माना। तिलक और अल याकुबी ने वैदिक साहित्य में वर्णित नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल 4500 ई.पू. माना। श्री अविनाशचन्द दास तथा पावगी ने ऋग्वेद में वर्णित भूगर्भ-विषयक साक्षी द्वारा ऋग्वेद को कई लाख वर्ष पूर्व का ठहराया है।

वैदिक साहित्य का वर्गीकरण

वैदिक साहित्य निम्न भागों में बँटा है-

(1) संहिता, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद्

और (1) वेदांग (2) सूत्र-साहित्य

संहिता

संहिता का अर्थ है संग्रह। संहिताओं में विभिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों का संकलन है। संहिताएँ चार हैं-(1) ऋक् (2) यजु, (3) साम और

(4) अथर्व प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नहीं हुई। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने इनका प्रकाश अग्नि, वायु आदित्य और अंगिरा नामक ऋषियों को दिया। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता और ऋषि होता है। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाय वह उस मन्त्र का देवता है और जिसने मन्त्र के अर्थ का सर्वप्रथम प्रदर्शन किया हो वह उसका ऋषि है। पाश्चात्य विद्वान ऋषियों को ही वेद-मन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक साहित्य को श्रुति भी कहा जाता है, क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ग्रहण किया था। बाद में इस ज्ञान को स्मरण करके जो ग्रन्थ लिखे गए, वे स्मृति कहलाए। श्रुति के शीर्ष स्थान पर उपर्युक्त चार संहिताएँ हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में 10,627 मन्त्र और 1,028 सूक्त हैं, ये दस मण्डलों में विभक्त हैं। सूक्तों में देवताओं की स्तुतियाँ हैं। ये बड़ी भव्य, उदात्त और काव्यमयी हैं। इनमें कल्पना की नवीनता, वर्णन की प्रौढ़ता और प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' आदि कई देवताओं के वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं। पाश्चात्य विद्वान ऋग्वेद की संहिता को सबसे प्राचीन मानते हैं। उनका विचार है कि इसके अधिकांश सूक्तों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य अफगानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेशों में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद में कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सिन्धु, गंगा, यमुना सरस्वती तथा पंजाब की पाँच नदियों शतुदि (सतलुज), विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिवनी (चनाब) और वितस्ता (झेलम) का उल्लेख है। इन नदियों से सिंचित प्रदेश भारत में आर्य-सभ्यता का जन्म-स्थान माना जाता है।

यजुर्वेद

इसमें यज्ञ-विषयक मन्त्रों का संग्रह है। इनका प्रयोग यज्ञ के समय अध्वर्यु नामक पुरोहित किया करता था। यजुर्वेद में 40 अध्याय हैं। तथा 1975 मन्त्र निहित है। पाश्चात्य विद्वान इसे ऋग्वेद से काफी समय बाद का मानते हैं। ऋग्वेद में आर्यों का कार्य-क्षेत्र पंजाब है, इसमें कुरु-पांचाल। कुरु सतलुज यमुना का मध्यवर्ती भू-भाग (वर्तमान अम्बाला डिवीजन) है और पांचाल गंगा-यमुना का दोआब था। इसी समय से गंगा-यमुना का प्रदेश आर्य-सभ्यता का केन्द्र हो गया। ऋग्वेद का धर्म उपासना-प्रधान था, किन्तु यजुर्वेद के दो भेद हैं-कृष्ण यजुष्

और शुक्ल यजुष्। दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है, पहले में केवल मन्त्रों का संग्रह है और दूसरे में छन्दोबद्ध मन्त्रों के साथ गद्यात्मक भाग सभी है।

सामवेद

इसमें गेय मन्त्रों का संग्रह है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। इस गायन को 'साम' कहते थे। प्रायः ऋचाएँ ही गाई जाती थीं। अतः समस्त सामवेद में ऋचाएँ ही हैं। इनकी संख्या 1,875 है। इनमें से केवल 75 ही नई हैं, बाकी सब ऋग्वेद से ली गई हैं। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद का यज्ञों से बहुत कम सम्बन्ध है। इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की ओषधियाँ, ज्वर, पीलिया, सर्पदंश, विष-प्रभाव को दूर करने के मन्त्र सूर्य की स्वास्थ्य-शक्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओ के शमन अदि का वर्णन है , इस वेद में यज्ञ करने के लाभ को तथा यज्ञ से पर्यावरण की रक्षा का भी वर्णन है। वे इसमें आर्य और अनार्य धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते हैं, किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति तथा समाज-शास्त्र के अनेक ऊँचे सिद्धान्त हैं। इसमें 20 काण्ड, 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्त तथा 5,977 मन्त्र हैं, इनमें 1200 के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। ऊपर कहे गए चारों संहिताएं पहले एक ही जगह थे। वेदव्यास जी ने यज्ञसिद्धि के लिए चार भागों में विभाजन किया था।

वेदों की शाखाएँ

प्राचीन काल में वेदों की रक्षा गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा होती थी। इनका लिखित एवं निश्चित स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद आने लगा और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थीं - शैशिरीयशाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय। इनमें अब पहली शाखा ही उपलब्ध होती है। यह शाखा आदित्य सम्प्रदायिका है। शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएँ हैं–माध्यंदिन और काण्व। पहली उत्तरी भारत में मिलती है और दूसरी महाराष्ट्र में। इनमें अधिक भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की

आजकल चार शाखाएँ मिलती हैं–तैत्तिरीय मैत्रयणी, काठक (या कठ) तथा कापिष्ठल संहिता। इनमें दूसरी-तीसरी पहली से मिलती हैं, क्रम में थोड़ा ही अन्तर है। चौथी शाखा आधी ही मिली है। यह वेद ब्रह्मसम्प्रदायिका है। सामवेद की दो शाखाएँ थीं - कौथुम और राणायनीय। इसमें कौथुम का केवल सातवाँ प्रपाठक मिलता है। यह शाखा भी आदित्य सम्प्रदायका है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं-पैप्पलाद और शौनक। वर्तमान समय में शौनक शाखा ही पूर्णरूप में प्राप्त होती है, यह शाखा आदित्यसम्प्रदायिका है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

चारों वेदों के संस्कृत भाषा में प्राचीन समय में जो अनुवाद थे 'मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्' के अनुसार वे ब्राह्मण ग्रंथ कहे जाते हैं। चार मुख्य ब्राह्मण ग्रंथ हैं- ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। वेद संहिताओं के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ माना जाता है। इनमें यज्ञों के कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन है, साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएँ तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचार हैं। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं–(1) ऐतरेय ब्राह्मण और (2) कौषीतकी। ऐतरेय में 40 अध्याय और आठ पंचिकाएँ हैं, इसमें अग्निष्टोम, गवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों, अग्निहोत्र तथा राज्यभिषेक का विस्तृत ऐतरेय ब्राह्मण-जैसा ही है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय में शुनःशेप की प्रसिद्ध कथा है। कौषीतकी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों, व्युत्पत्तियों तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पांचाल आर्य संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, च्यवन ऋषि तथा महा प्रलय का आख्यान, जनमेजय, शकुन्तला और भरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविंश या ताण्ड्य ही महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ के नाम से प्रसिद्ध है।

आरण्यक

ब्राह्मणों के अन्त में कुछ ऐसे अध्याय मिलते हैं जो गाँवों या नगरों में नहीं पढ़े जाते थे। इनका अध्ययन-अध्यापन गाँवों से दूर (अरण्योंध्वनों) में होता था,

अत: इन्हें आरण्यक कहते हैं। गृहस्थाश्रम में यज्ञविधि का निर्देश करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ उपयोगी थे और उसके बाद वानप्रस्थ आश्रम में संन्यासी आर्य यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करने वाले आरण्यकों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं आरण्यकों से विकास हुआ।

उपनिषद्

उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के गूढ़तम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अन्त में होने से ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक उड़ाने ली गई है। भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद उनका अमूल्य कोष हैं। इनमें अनेक शतकों की तत्त्व-चिन्ता का परिणाम है। मुक्तिकोपनिषद् चारों वेदों से सम्बद्ध 108 उपनिषद् गिनाये गए हैं, किन्तु 11 उपनिषद् ही अधिक प्रसिद्ध हैं-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैदिक साहित्य का यह सिद्धान्त देखा जाता है प्रत्येक मन्त्रभाग मे एक और ब्राह्मणभाग मे एक उपनिषद उपदिष्ट थे। अब प्राय लुप्त हो गए। अब भी यह सिद्धान्त शुक्ल यजुर्वेद मे बचा है—ईशावास्योनिषद् मन्त्रेपनिषद् है और बृहदारण्यकोपनिषद् ब्राह्मणोपनिषद् है।

सूत्र-साहित्य

वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ-प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाने लगे। इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता था। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूत्र-साहित्य को चार भागों में बाँटा गया-

(1) श्रौत सूत्र (2) गृह्य सूत्र (3) धर्म सूत्र और (4) शुल्ब सूत्र

पहले में वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है। दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का, तीसरे में सामाजिक नियमों का और चौथे में यज्ञ-वेदियों के निर्माण का।

श्रौत सूत्र

श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ याग। अतः श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों के आधान अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों का वर्णन है। ये भारत की प्राचीन यज्ञ-पद्धति पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र हैं-शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक-कात्यायन, कृष्ण यजुर्वेद के छः सूत्र हैं-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस। सामवेद के लाट्यायन, दाह्यायण और आर्षेय नामक तीन सूत्र हैं। अथर्ववेद का एक ही वैतान सूत्र है।

गृह्य सूत्र

इनमें उन विचारों तथा जन्म से मरणपर्यन्त किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है, जिनका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार का विस्तार से वर्णन है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का तथा विभिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। ऋग्वेद के गृह्य सूत्र शांखायन और आश्वलायन हैं। शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर, कृष्ण यजुर्वेद के आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, Bharadvaj, वराह, मानव, काठक और वैखानस, सामवेद के गोभिल तथा खादिर और अथर्ववेद का कौशिक। इनमें गोभिलको प्राचीनतम माना जाता है।

धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में समाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से प्रतिपादन है। वर्णाश्रम-धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्त्तव्यों, विवाह के भेदों, दाय की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, प्रायश्चित्त आदि का विशेष वर्णन है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई, जिनकी व्यवस्थाएँ हिन्दू-समाज में आज तक माननीय समझी जाती हैं। वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्मसूत्र ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी व बौधायन। ये कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद का शंखलिखित धर्मसूत्र होने की बात सुना है। अन्य धर्मसूत्रों में सामवेद से सम्बद्ध गौतमधर्म सूत्र और ऋग्वेद से सम्बद्ध वसिष्ठधर्मसूत्र उल्लेखनीय हैं।

शुल्ब सूत्र

इनका सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्ब का अर्थ है मापने का डोरा। अपने नाम के अनुसार शुल्ब सूत्रों में यज्ञ-वेदियों को नापना, उनके लिए स्थान का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। ये भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम स्रोत ग्रन्थ हैं।

वेदांग

काफी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य जटिल एवं कठिन प्रतीत होने लगा। उस समय वेद के अर्थ तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इसलिए इन्हें वेदाङ्ग कहा गया।

वेदाङ्ग छः हैं-

शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष

पहले चार वेदांग, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थ समझने के लिए तथा अन्तिम दो वेदांग धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक हैं। व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर।

शिक्षा

उन ग्रन्थों को शिक्षा कहते हैं, जिनकी सहायता से वेद-मन्त्रों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान होता था। वेद-पाठ में स्वरों का विशेष महत्त्व था। इनकी शिक्षा के लिए पृथक् वेदांग बनाया गया। इसमें वर्णों के उच्चारण के अनेक नियम दिये गए हैं। संसार में उच्चारण-शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही हैं। ये वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्रातिशाख्य कहलाते हैं। ऋग्वेद अथर्ववेद, वाजसेनीय व तैत्तिरीय संहिता के प्रातिशाख्य मिलते हैं। बाद में इसके आधार पर शिक्षा-ग्रन्थ लिखे गए। इनमें शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा और पाणिनि की पाणिनीय शिक्षा मुख्य हैं-

छन्द

वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। छन्दों का बिना ठीक ज्ञान प्राप्त किये, वेद-मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। अतः छन्दों की विस्तृत विवेचना

आवश्यक समझी गई। शौनक मुनि के ऋक्प्रातिशाख्य में, शांखायन श्रौतसूत्र में तथा सामवेद से सम्बद्ध निदान सूत्र में इस शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है। किन्तु इस वेदांग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ पिंगलाचार्य-प्रणीत छन्द सूत्र है। इसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

व्याकरण

इस अंग का उद्देश्य सन्धि, शब्द-रूप, धातु-रूप तथा इनकी निर्माण-पद्धति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ पाणिनी का अष्टाध्यायी है, किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से शुरू हो गया था। पाणिनी से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान आचार्य हो चुके थे। इन सबके ग्रन्थ अब लुप्त हो चुके हैं।

निरुक्त

इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाई जाती थी। प्राचीन काल में वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका और कोश निघंटु कहलाते थे और इनकी व्याख्या निरुक्त में होती थी। आजकल केवल यास्काचार्य का निरुक्त ही उपलब्ध होता है। इसका समय 800 ई. पू. के लगभग है।

ज्योतिष

वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ उचित काल और मुहूर्त में किये जाने से ही फलदायक होते हैं। अतः काल-ज्ञान के लिए ज्योतिष का ज्ञान अत्यावश्यक माना गया। इस प्रकार ज्योतिष के ज्ञाता को यज्ञवेत्ता जाना गया। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र का विकास हुआ। यह वेद का अंग समझा जाने लगा। इसका प्राचीनतम ग्रन्थ लगधमुनि-रचित वेदांग ज्योतिष पंचसंवत्सरमयं इत्यादि 44 श्लोकात्मक है। नेपाल में इस ग्रन्थ के आधार पर बना वैदिक तिथिपत्रम् व्यवहार में लाया गया है।

कल्प

कल्प, वेद के छह अंगों (वेदांगों) में से वह अंग है जो कर्मकाण्डों का विवरण देता है। अनेक वैदिक ऐतिहासिकों के मत से कल्पग्रंथ या कल्पसूत्र छः वेदांगों में प्राचीनतम और वैदिक साहित्य के अधिक निकट हैं। वेदांगों में कल्प

का विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि जन्म, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि और यज्ञ जैसे विषय इसमें विहित हैं।

वेदांग

वेदाङ्ग हिन्दू धर्म ग्रन्थ हैं। वेदार्थ ज्ञान में सहायक शास्त्र को ही वेदांग कहा जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त – ये छः वेदांग है।

शिक्षा – इसमें वेद मन्त्रों के उच्चारण करने की विधि बताई गई है। स्वर एवं वर्ण आदि के उच्चारण-प्रकार की जहाँ शिक्षा दी जाती हो, उसे शिक्षा कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य वेदमन्त्रों के अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण किये जाने का है। शिक्षा का उद्‌भव और विकास वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और उनके द्वारा उनकी रक्षा के उदेश्य से हुआ है।

कल्प – वेदों के किस मन्त्र का प्रयोग किस कर्म में करना चाहिये, इसका कथन किया गया है। इसकी तीन शाखायें हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। कल्प वेद-प्रतिपादित कर्मों का भलीभाँति विचार प्रस्तुत करने वाला शास्त्र है। इसमें यज्ञ सम्बन्धी नियम दिये गये हैं।

व्याकरण – इससे प्रकृति और प्रत्यय आदि के योग से शब्दों की सिद्धि और उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की स्थिति का बोध होता है। वेद-शास्त्रों का प्रयोजन जानने तथा शब्दों का यथार्थ ज्ञान हो सके अतः इसका अध्ययन आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में पाणिनीय व्याकरण ही वेदांग का प्रतिनिधित्व करता है। व्याकरण वेदों का मुख भी कहा जाता है।

निरुक्त – वेदों में जिन शब्दों का प्रयोग जिन-जिन अर्थों में किया गया है, उनके उन-उन अर्थों का निश्चयात्मक रूप से उल्लेख निरुक्त में किया गया है। इसे वेद पुरुष का कान कहा गया है। निःशेष रूप से जो कथित हो, वह निरुक्त है। इसे वेद की आत्मा भी कहा गया है।

ज्योतिष – इससे वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों का समय ज्ञात होता है। यहाँ ज्योतिष से मतलब वेदांग ज्योतिष से है। यह वेद पूरुष का नेत्र माना जाता है। वेद यज्ञकर्म में प्रवृत होते हैं और यज्ञ काल के आश्रित होते हैं तथा ज्योतिष शास्त्र से काल का ज्ञान होता है। अनेक वेदिक पहेलियों का भी ज्ञान बिना ज्योतिष के नहीं हो सकता।

छन्द - वेदों में प्रयुक्त गायत्री, उष्णिक आदि छन्दों की रचना का ज्ञान छन्दशास्त्र से होता है। इसे वेद पुरुष का पैर कहा गया हैं। ये छन्द वेदों के आवरण है। छन्द नियताक्षर वाले होते हैं। इसका उद्देश्य वैदिक मन्त्रों के समुचित पाठ की सुरक्षा भी है।

छन्द को वेदों का पाद, कल्प को हाथ, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को कान, शिक्षा को नाक, व्याकरण को मुख कहा गया है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।

परिचय

वेदांग छह हैं, वेद का अर्थज्ञान होने के लिए इनका उपयोग होता है। वेदांग ये हैं -

शिक्षा

वेदों के स्वर, वर्ण आदि के शुद्ध उच्चारण करने की शिक्षा जिससे मिलती है, वह 'शिक्षा' है। वेदों के मंत्रों का पठन पाठन तथा उच्चारण ठीक रीति से करने की सूचना इस 'शिक्षा' से प्राप्त होती है। इस समय 'पाणिनीय शिक्षा' भारत में विशेष मननीय मानी जाती है।

स्वर, व्यंजन ये वर्ण हैं, ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत ये स्वर के उच्चारण के तीन भेद हैं। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये भी स्वर के उच्चारण के भेद हैं। वर्णो के स्थान आठ हैं -

(1) जिह्वा, (2) कंठ, (3) मूर्धा , (4) जिह्वामूल, (5) दंत, (6) नासिका, (7) ओष्ठ और (8) तालु।

कण्ठः-अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः-(ऑ क्ॉ खॅ गॅ घॅ ङ्घॅ ः= विसर्गः)
तालुः-इचुयशानां तालुः-(इॉ चॅ छॉ जॅ ञॅ षॅ श्)
मूर्धा-ऋटुरषाणां मूर्धा-(ऋॉ ट्ॉ ठ्ॉ ड्ॉ ढ्ॉ णॅ ृं ष)
दन्तः-लृतुलसानां दन्तः-(लृॉ तॅ थॅ द्ॉ धॅ नॅ लॅ स)
ओष्ठः-उपूपध्मानीयानां ओष्ठौ-(उॉ पॅ फॉ बॅ भॅ मॅ उपध्मानीय पॅ फ)
नासिका च-ꣳमङ णनानां नासिका च (ञॅ मॅ ङ्ॉ णॅ न)

कण्ठतालुः-एदैतोः कण्ठतालुः-(एॅ ऐ)
कण्ठोष्ठम्-ओदौतोः कण्ठोष्ठम्-(ओॅ औ)
दन्तोष्ठम्-वकारस्य दन्तोष्ठम् (व)
जिह्वामूलम्-जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् (जिह्ववामूलीय क॑)
नासिका-नासिकानुस्वारस्य (ं = अनुस्वारः)

इन आठ स्थानों में से यथायोग्य रीति से, जहाँ से जैसा होना चाहिए वैसा, वर्णोच्चार करने की शिक्षा यह पाणिनीय शिक्षा देती है। अतः हम इसको 'वर्णोच्चार शिक्षा' भी कह सकते हैं।

कल्पसूत्र

वेदोक्त कर्मों का विस्तार के साथ संपूर्ण वर्णन करने का कार्य कल्पसूत्र ग्रंथ करते हैं। ये कल्पसूत्र दो प्रकार के होते हैं। एक 'श्रौतसूत्र' हैं और दूसरे 'स्मार्तसूत्र' हैं। वेदों में जिस यज्ञयाग आदि कर्मकांड का उपदेश आया है, उनमें से किस यज्ञ में किन मंत्रों का प्रयोग करना चाहिए, किसमें कौन सा अनुष्ठान किस रीति से करना चाहिए, इत्यादि कर्मकांड की सम्पूर्ण विधि इन कल्पसूत्र ग्रंथों में कही होती है। इसलिए कर्मकांड की पद्धति जानने के लिए इन कल्पसूत्र ग्रंथों की विशेष आवश्यकता होती है। यज्ञ यागादि का ज्ञान श्रौतसूत्र से होता है और षोडश संस्कारों का ज्ञान स्मार्तसूत्र से मिलता है।

वैदिक कर्मकांड में यज्ञों का बड़ा भारी विस्तार मिलता है। और हर एक यज्ञ की विधि श्रौतसूत्र से ही देखनी होती है। इसलिए श्रौतसूत्र अनेक हुए हैं। इसी प्रकार स्मार्तसूक्त भी सोलह संस्कारों का वर्णन करते हैं, इसलिए ये भी पर्याप्त विस्तृत हैं। श्रौतसूत्रों में यज्ञयाग के सब नियम मिलेंगे और स्मार्तसूत्रों में अर्थात् गृह्यसूत्रों में उपनयन, जातकर्म, विवाह, गर्भाधान, आदि षोडश संस्कारों का विधि विधान रहेगा।

व्याकरण

वेदों के ज्ञान के लिए जिन छः वेदांगों का विवेचन किया गया है उनमें व्याकरण भी महत्त्वपूर्ण वेदांग है। शब्दों व धातु रूपों आदि की शुद्धता पर व्याकरण में विचार किया जाता है। व्याकरण का अर्थ- व्याकरण शब्द का अर्थ अनेक रूपों में प्राप्त होता है-(क) व्याकरण का व्युत्पत्तिगत अर्थ है-व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम् (ख) आचार्य सायण के शब्दों में

व्याकरणमपि प्रकृति-प्रत्ययादि-उपदेशेन पदस्वरूपं तदर्थं निश्चयाय प्रसज्यते। (ग) पाणिनीय शिक्षा में व्याकरण को वेद-पुरुष का मुख कहा गया है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

व्याकरण के प्रयोजन

आचार्य वररुचि ने व्याकरण के पाँच प्रयोजन बताए हैं- (1) रक्षा (2) ऊह (3) आगम (4) लघु (5) असंदेह

(1) व्याकरण का अध्ययन वेदों की रक्षा करना है।

(2) ऊह का अर्थ है-कल्पना। वैदिक मन्त्रों में न तो लिंग है और न ही विभक्तियाँ। लिंगों और विभक्तियों का प्रयोग वही कर सकता है जो व्याकरण का ज्ञाता हो।

(3) आगम का अर्थ है—श्रुति। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि वह वेदों का अध्ययन करे।

(4) लघु का अर्थ है-शीघ्र उपाय। वेदों में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनकी जानकारी एक जीवन में सम्भव नहीं है।व्याकरण वह साधन है जिससे समस्त शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है।

(5) असंदेह का अर्थ है-संदेह न होना। संदेहों को दूर करने वाला व्याकरण होता है, क्योंकि वह शब्दों का समुचित ज्ञान करवाता है।

निरुक्त

शब्द की उत्पत्ति तथा व्युत्पत्ति कैसे हुई, यह निरुक्त बताता है। इस विषय पर यही महत्त्व का ग्रंथ है। यास्काचार्य जी का यह निरुक्त प्रसिद्ध है। इसको शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र भी कह सकते हैं। वेद का यथार्थ अर्थ समझने के लिए इस निरुक्त की अत्यंत आवश्यकता है।

छन्द

गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, वृहती आदि छंदों का ज्ञान होने के लिए छंद शास्त्र की उपयोगिता है। प्रत्येक छंद के पाद कितने होते हैं और ह्रस्व दीर्घादि अक्षर प्रत्येक पाद में कैसे होने चाहिए, यह विषय इसका है। पिन्गल मुनि द्वारा रचित छन्द सूत्र सबसे प्राचीन सहित्य हैं।

ज्योतिष

खगोल में सूर्य, चंद, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि ग्रह किस प्रकार गति करते हैं, सूर्य, चंद आदि के ग्रहण कब होंगे, अन्य तारकों की गति कैसी होती है, यह विषय ज्योतिष शास्त्र का है। वेदमंत्रों में यह नक्षत्रों का जो वर्णन है, उसे ठीक प्रकार से समझने के लिए ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार वेदांगों का ज्ञान वेद का उत्तम बोध होने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

वेद, प्राचीन भारत के पवित्रतम साहित्य हैं जो हिन्दुओं के प्राचीनतम और आधारभूत धर्मग्रन्थ भी हैं। वेद, विश्व के सबसे प्राचीन साहित्य भी हैं। भारतीय संस्कृति में वेद सनातन वर्णाश्रम धर्म के, मूल और सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं।

'वेद' शब्द संस्कृत भाषा के विद् ज्ञाने धातु से बना है। इस तरह वेद का शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है। इसी धातु से 'विदित' (जाना हुआ), 'विद्या' (ज्ञान), 'विद्वान' (ज्ञानी) जैसे शब्द आए हैं।

आज 'चतुर्वेद' के रूप में ज्ञात इन ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है –

ऋग्वेद – सबसे प्राचीन तथा प्रथम वेद जिसमें मन्त्रों की संख्या 10627 है। इसका मूल विषय ज्ञान है। विभिन्न देवताओं का वर्णन है तथा ईश्वर की स्तुति आदि।

यजुर्वेद – इसमें कार्य (क्रिया) व यज्ञ (समर्पण) की प्रक्रिया के लिये 1975 गद्यात्मक मन्त्र हैं।

सामवेद – इस वेद का प्रमुख विषय उपासना है। संगीत में गाने के लिये 1875 संगीतमय मंत्र।

अथर्ववेद – इसमें गुण, धर्म, आरोग्य, एवं यज्ञ के लिये 5977 कवितामयी मन्त्र हैं।

वेदों को अपौरुषेय (जिसे कोई व्यक्ति न कर सकता हो, यानि ईश्वर कृत) माना जाता है। यह ज्ञान विराटपुरुष से कारणब्रह्म से श्रुति परम्परा के माध्यम से सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने प्राप्त किया माना जाता है। यह भी मान्यता है कि परमात्मा ने सबसे पहले चार महर्षियों जिनके अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नाम थे की आत्माओं में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया, उन महर्षियों ने फिर यह ज्ञान ब्रह्मा को दिया। इन्हें श्रुति भी कहते हैं जिसका अर्थ है 'सुना हुआ ज्ञान'। अन्य आर्य ग्रंथों को स्मृति कहते हैं, यानि

वेदज्ञ मनुष्यों की वेदानुगत बुद्धि या स्मृति पर आधारित ग्रन्थ। वेद मंत्रों की व्याख्या करने के लिए अनेक ग्रंथों जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद की रचना की गई। इनमें प्रयुक्त भाषा वैदिक संस्कृत कहलाती है जो लौकिक संस्कृत से कुछ अलग है। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिन्द-आर्य जाति के बारे में वेदों को एक अच्छा सन्दर्भ श्रोत माना जाता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्त्व बना हुआ है।

वेदों को समझना प्राचीन काल में भारतीय और बाद में विश्व भर में एक वार्ता का विषय रहा है। इसको पढ़ाने के लिए छः अंगों- शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष के अध्ययन और उपांगों जिनमें छः शास्त्र- पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, और वेदांत व दस उपनिषद्- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडुक्य, ऐतरेय, तैतिरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक आते हैं, इनके पढ़ने के बाद ही प्राचीन काल में वेदाध्ययन पूर्ण माना जाता था। प्राचीन काल के , वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, वेदव्यास, जैमिनी, याज्ञवल्क्य, कात्यायन इत्यादि ऋषियों को वेदों के अच्छे ज्ञाता माना जाता है। मध्यकाल में रचित व्याख्याओं में सायण का रचा चतुर्वेदभाष्य "माधवीय वेदार्थदीपिका" बहुत मान्य है। यूरोप के विद्वानों का वेदों के बारे में मत हिन्द-आर्य जाति के इतिहास की जिज्ञासा से प्रेरित रहा है। अतः वे इसमें लोगों, जगहों, पहाड़ों, नदियों के नाम ढूँढते रहते हैं—लेकिन ये भारतीय परंपरा और गुरुओं की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता। अठारहवीं सदी उपरांत यूरोपियनों के वेदों और उपनिषदों में रुचि आने के बाद भी इनके अर्थों पर विद्वानों में असहमति बनी रही है।

वेद का हिंदी भाष्य

कालक्रम

वेद सबसे प्राचीन पवित्र ग्रंथों में से हैं। संहिता की तारीख लगभग 1700-1100 ईसा पूर्व, और "वेदांग" ग्रंथों के साथ-साथ संहिताओं की प्रतिदेयता कुछ विद्वान वैदिक काल की अवधि 1500-600 ईसा पूर्व मानते हैं तो कुछ इससे भी अधिक प्राचीन मानते हैं। जिसके परिणामस्वरूप एक वैदिक अवधि होती है, जो 1000 ईसा पूर्व से लेकर 200 ई.पूर्व तक है। कुछ विद्वान इन्हें ताम्र पाषाण काल (4000 ईसा पूर्व) का मानते हैं। वेदों के बारे में यह मान्यता भी प्रचलित है कि वेद सृष्टि के आरंभ से हैं और परमात्मा द्वारा मानव

मात्र के कल्याण के लिए दिए गए हैं। वेदों में किसी भी मत, पंथ या सम्प्रदाय का उल्लेख न होना यह दर्शाता है कि वेद विश्व में सर्वाधिक प्राचीनतम साहित्य है। वेदों की प्रकृति विज्ञानवादी होने के कारण पश्चिमी जगत में इनका डंका बज रहा है। वैदिक काल, वेद ग्रंथों की रचना के बाद ही अपने चरम पर पहुँचता है, पूरे उत्तरी भारत में विभिन्न शाखाओं की स्थापना के साथ, जो कि ब्राह्मण ग्रंथों के अर्थों के साथ मंत्र संहिताओं को उनके अर्थ की चर्चा करता है, बुद्ध और पाणिनी के काल में भी वेदों का बहुत अध्ययन-अध्यापन का प्रचार था यह भी प्रमाणित है। माइकल विटजेल भी एक समय अवधि देता है 1500 से 500-400 ईसा पूर्व, माइकल विटजेल ने 1400 ईसा पूर्व माना है, उन्होंने विशेष संदर्भ में ऋग्वेद की अवधि के लिए इंडो-आर्यन समकालीन का एकमात्र शिलालेख दिया था। उन्होंने 150 ईसा पूर्व (पतंजलि) को सभी वैदिक संस्कृत साहित्य के लिए एक टर्मिनस एंटी क्वीन के रूप में, और 1200 ईसा पूर्व (प्रारंभिक आयरन आयु) अथर्ववेद के लिए टर्मिनस पोस्ट क्वीन के रूप में दिया। मैक्समूलर ऋग्वेद का रचनाकाल 1200 ईसा पूर्व से 200 ईसा पूर्व के काल के मध्य मानता है। दयानन्द सरस्वती चारों वेदों का काल 1960852976 वर्ष हो चुके हैं यह (1876 ईस्वीं में) मानते हैं।

वैदिक काल में ग्रंथों का संचरण मौखिक परंपरा द्वारा किया गया था, विस्तृत नैमनिक तकनीकों की सहायता से परिशुद्धता से संरक्षित किया गया था। मौर्य काल (322-185 ई. पू.) में बौद्ध धर्म (600 ई. पू.) के उदय के बाद वैदिक समय के बाद साहित्यिक परंपरा का पता लगाया जा सकता है। इसी काल में गृहसूत्र, धर्मसूत्र और वेदांगों की रचना हुई, ऐसा विद्वानों का मत है। इसी काल में संस्कृत व्याकरण पर पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रंथ लिखा। अन्य दो व्याकरणाचार्य कात्यायन और पतंजलि उत्तर मौर्य काल में हुए। चंदगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री चाणक्य ने अर्थशास्त्र नामक ग्रंथ लिखा। शायद 1 शताब्दी ईसा पूर्व के यजुर्वेद के कन्वा पाठ में सबसे पहले, हालांकि संचरण की मौखिक परंपरा सक्रिय रही। माइकल विटजेल ने 1 सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व में लिखित वैदिक ग्रंथों की संभावना का सुझाव दिया। कुछ विद्वान जैसे जैक गूडी कहते हैं कि "वेद एक मौखिक समाज के उत्पाद नहीं हैं", इस दृष्टिकोण को ग्रीक, सर्बिया और अन्य संस्कृतियों जैसे विभिन्न मौखिक समाजों से साहित्य के संचरित संस्करणों में विसंगतियों की तुलना करके इस दृष्टिकोण का आधार रखते हुए, उस पर ध्यान देते हुए वैदिक साहित्य बहुत सुसंगत और विशाल है जिसे लिखे बिना,

पीढ़ियों में मौखिक रूप से बना दिया गया था। हालांकि जैक गूडी कहते हैं, वैदिक ग्रंथों की एक लिखित और मौखिक परंपरा दोनों में शामिल होने की संभावना है, इसे "साक्षरता समाज के समानांतर उत्पाद" कहते हैं।

वैदिक काल में पुस्तकों को ताड़ के पेड़ के पत्तों पर लिखा जाता था। पांडुलिपि सामग्री (बर्च की छाल या ताड़ के पत्तों) की तात्कालिक प्रकृति के कारण, जीवित पांडुलिपियां शायद ही कुछ सौ वर्षों की उम्र को पार करती हैं। पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय का 14 वीं शताब्दी से ऋग्वेद पांडुलिपि है, हालांकि, नेपाल में कई पुरानी वेद पांडुलिपियां हैं जो 11 वीं शताब्दी के बाद से हैं।

प्राचीन विश्वविद्यालय

वेद, वैदिक अनुष्ठान और उसके सहायक विज्ञान वेदांग कहलाते थे, ये वेदांग प्राचीन विश्वविद्यालयों जैसे तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला में पाठ्यक्रम का हिस्सा थे।

वेद-भाष्यकार

प्राचीन काल में माना जाता है कि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषियों को वेदों का ज्ञान मिला उसके बाद ब्रह्मा को और उसके बाद सात ऋषियों (सप्तर्षि) को यह ज्ञान मिला - इसका उल्लेख गीता में हुआ है। ऐतिहासिक रूप से ब्रह्मा, उनके मरीचि, अत्रि आदि सात और पौत्र कश्यप और अन्य यथा जैमिनी, पतंजलि, मनु, वात्स्यायन, कपिल, कणाद आदि मुनियों को वेदों का अच्छा ज्ञान था। व्यास ऋषि ने गीता में कई बार वेदों (श्रुति ग्रंथों) का जिक्र किया है। अध्याय 2 में कृष्ण, अर्जुन से ये कहते हैं कि वेदों की अलंकारमयी भाषा के बदले उनके वचन आसान लगेंगे।

मध्यकाल में सायणाचार्य को वेदों का प्रसिद्ध भाष्यकार मानते हैं–लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि उन्होंने ही प्रथम बार वेदों के भाष्य या अनुवाद में देवी-देवता, इतिहास और कथाओं का उल्लेख किया जिसको आधार मानकार महीधर और अन्य भाष्यकारों ने ऐसी व्याख्या की। महीधर और उव्वट इसी श्रेणी के भाष्यकार थे।

आधुनिक काल में राजा राममोहन राय का ब्रह्म समाज और दयानन्द सरस्वती का आर्य समाज लगभग एक ही समय (1800-1900 ईस्वीं) में वेदों

के सबसे बड़े प्रचारक बने। दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद और ऋग्वेद का लगभग सातवें मंडल के कुछ भाग तक भाष्य किया। सामवेद और अथर्ववेद का भाष्य पं. हरिशरण सिद्धान्तलंकार ने किया है। वैदिक संहिताओं के अनुवाद में रमेशचंद दत्त बंगाल से, रामगोविन्द त्रिवेदी एवं जयदेव वेदालंकार के हिन्दी में एवं श्रीधर पाठक का मराठी में कार्य भी लोगों को वेदों के बारे में जानकारी प्रदान करता रहा है। इसके बाद गायत्री तपोभूमि के श्रीराम शर्मा आचार्य ने भी वेदों के भाष्य प्रकाशित किये हैं–इनके भाष्य सायणाधारित हैं। अन्य भी वेदों के अनेक भाष्यकार हैं।

वेदों का प्रकाशन

वेदों का प्रकाशन शंकर पाण्डुरंग ने सायण भाष्य के अलावा अथर्ववेद का चार जिल्दों में प्रकाशन किया। लोकमान्य तिलक ने ओरायन और द आर्कटिक होम इन वेदाज नामक दो ग्रंथ वैदिक साहित्य की समीक्षा के रूप में लिखे। बालकृष्ण दीक्षित ने सन् 1877 ई. में कोलकाता से सामवेद पर अपने ज्ञान का प्रकाशन कराया। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने सातारा में चारों वेदों की संहिता का श्रमपूर्वक प्रकाशन कराया। तिलक विद्यापीठ, पुणे से पाँच जिल्दों में प्रकाशित ऋग्वेद के सायण भाष्य के प्रकाशन को भी प्रामाणिक माना जाता है।

विदेशी प्रयास

सत्रहवीं सदी में मुगल बादशाह औरंगजेब के भाई दारा शिकोह ने कुछ उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया (सिर्र ए अकबर, महान रहस्य) जो पहले फ्रांसिसी और बाद में अन्य भाषाओं में अनूदित हुई। यूरोप में इसके बाद वैदिक और संस्कृत साहित्य की ओर ध्यान गया। मैक्स मूलर जैसे यूरोपीय विद्वान ने भी संस्कृत और वैदिक साहित्य पर बहुत अध्ययन किया है। लेकिन यूरोप के विद्वानों का ध्यान हिन्द आर्य भाषा परिवार के सिद्धांत को बनाने और उसको सिद्ध करने में ही लगा हुआ है। शब्दों की समानता को लेकर बने इस सिद्धांत में ऐतिहासिक तथ्यों और काल निर्धारण को तोड़-मरोड़ करना ही पड़ता है। इस कारण से वेदों की रचना का समय 1800-1000 ईसा पूर्व माना जाता है जो संस्कृत साहित्य और हिन्दू सिद्धांतों पर खरा नहीं उतरता। लेकिन आर्य जातियों के प्रयाण के सिद्धांत के तहत और भाषागत दृष्टि से यही काल इन ग्रंथों की रचना का मान लिया जाता है।

वेदों का काल

वेदों का अवतरण काल वर्तमान सृष्टि के आरंभ के समय का माना जाता है। इसके हिसाब से वेद को अवतरित हुए 2017 (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा विक्रमी संवत 2074) को 1,96,08,53,117 वर्ष होंगे। वेद अवतरण के पश्चात् श्रुति के रूप में रहे और काफी बाद में वेदों को लिपिबद्ध किया गया और वेदों को संरक्षित करने अथवा अच्छी तरह से समझने के लिये वेदों से ही वेदांगों का आविष्कार किया गया। इसमें उपस्थित खगोलीय विवरणानुसार कई इतिहासकार इसे 5000 से 7000 साल पुराना मानते हैं परंतु आत्मचिंतन से ज्ञात होता है कि जैसे सात दिन बीत जाने पर पुनः रविवार आता है वैसे ही ये खगोलीय घटनाएं बार बार होतीं हैं अतः इनके आधार पर गणना श्रेयसकर नहीं।

वेद हमें ब्रह्मांड के अनोखे, अलौकिक व ब्रह्मांड के अनंत राज बताते हैं जो साधारण समझ से परे हैं। वेद की पुरातन नीतियां व ज्ञान इस दुनिया को न केवल समझाते हैं अपितु इसके अलावा वे इस दुनिया को पुनः सुचारू तरीके से चलाने में मददगार साबित हो सकते हैं।

वेदों का महत्त्व

प्राचीन काल से भारत में वेदों के अध्ययन और व्याख्या की परम्परा रही है। वैदिक सनातन वर्णाश्रम (हिन्दू) धर्म के अनुसार वैदिक काल में ब्रह्मा से लेकर वेदव्यास तथा जैमिनि तक के ऋषि-मुनियों और दार्शनिकों ने शब्द, प्रमाण के रूप में इन्हीं को माना है और इनके आधार पर अपने ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। पराशर, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, व्यास, पाणिनी आदि को प्राचीन काल के वेदवेत्ता कहते हैं। वेदों के विदित होने यानि चार ऋषियों के ध्यान में आने के बाद इनकी व्याख्या करने की परम्परा रही है। अतः फलस्वरूप एक ही वेद का स्वरूप भी मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के रूप में चार ही माना गया है। इतिहास (महाभारत), पुराण आदि महान् ग्रन्थ वेदों का व्याख्यान के स्वरूप में रचे गए। प्राचीन काल और मध्ययुग में शास्त्रार्थ इसी व्याख्या और अर्थांतर के कारण हुए हैं। मुख्य विषय - देव, अग्नि, रुद्र, विष्णु, मरुत, सरस्वती इत्यादि जैसे शब्दों को लेकर हुए। वेदवेत्ता महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार में ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान वेदों के विषय हैं। जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीन अनादि नित्य सत्ताओं का निज स्वरूप का ज्ञान केवल वेद से ही उपलब्ध होता है। वेद में मूर्ति पूजा को अमान्य कहा गया है।

कणाद ने "तद्वचनादाम्नायस्य प्राणाण्यम्" और "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" कहकर वेद को दर्शन और विज्ञान का भी स्रोत माना है। हिन्दू धर्म अनुसार सबसे प्राचीन नियम विधाता महर्षि मनु ने कहा वेदोऽखिलो धर्ममूलम् - खिलरहित वेद अर्थात् समग्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद के रूप में वेद ही धर्म व धर्मशास्त्र का मूल आधार है। न केवल धार्मिक किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी वेदों का असाधारण महत्त्व है। वैदिक युग के आर्यों की संस्कृति और सभ्यता को जानने का वेद ही तो एकमात्र साधन है। मानव-जाति और विशेषत: वैदिकों ने अपने शैशव में धर्म और समाज का किस प्रकार विकास किया इसका ज्ञान केवल वेदों से मिलता है। विश्व के वाङ्मय में इनको प्राचीनतम ग्रन्थ (पुस्तक) माना जाता है। भारतीय भाषाओं का मूलस्वरूप निर्धारित करने में वैदिक भाषा अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई है।

यूनेस्को ने 7 नवम्बर 2003 को वेदपाठ को मानवता के मौखिक एवं अमूर्त विरासत की श्रेष्ठ कृतियाँ और मानवता के मौखिक एवं अमूर्त विरासत की श्रेष्ठ कृति घोषित किया।

विवेचना

प्राचीन काल में, भारत में ही, इसकी विवेचना के अंतर के कारण कई मत बन गए थे। मध्ययुग में भी इसके भाष्य (व्याख्या) को लेकर कई शास्त्रर्थ हुए। वैदिक सनातन वर्णाश्रमी इसमें वर्णित चरित्रों देव को पूज्य और मूर्ति रूपक आराध्य समझते हैं जबकि दयानन्द सरस्वती सहित अन्य कईयों का मत है कि इनमें वर्णित चरित्र (जैसे अग्नि, इंद आदि) एकमात्र ईश्वर के ही रूप और नाम हैं। इनके अनुसार देवता शब्द का अर्थ है - (उपकार) देने वाली वस्तुएँ, विद्वान लोग और सूक्त मंत्र (और नाम) न कि मूर्ति-पूजनीय आराध्य रूप।

वैदिक विवाद

यद्यपि आज के युग में हम सम्पूर्ण संसार में एकता-एकात्मता, प्रेम की भावना बना रहे हैं तथापि उस कालखण्ड में जब ब्रिटेन भारत पर शासन करता था, कुछ आङ्ग्ल अनुवादकों द्वारा वेदों के अनुवाद से कई मिथक उत्पन्न हो गए। यह कोई दोष नहीं बल्कि सोची समझी साजिश थी। उनका मुख्य कार्य भारत को खोखला करना और हिन्दुओं को ईसाई बनाना था। उन आंग्ल अनुवादकों का कहना था, "आर्य विदेशी हैं। वे भारत आए और उन्होंने यहाँ रहने

वाले लोगों को मारा, ताड़ित किया तथा यहाँ शासन किया। भारतीय लोग जड़ पदार्थों की पूजा किया करते थे, कुछ लोग दस्यु कहे जाते थे। दस्यु (अंग्रेजों के अनुसार दास या नीच रहे होंगे, परंतु दस्यु का अर्थ है वह जो नास्तिक हो तथा जो बुरे कार्यों को करता हो। वे भी आर्य ही थे परंतु उनको उनके कर्मों से दस्यु या अनार्य की संज्ञा दी जाती थी।) या दानव कहलाते थे।" परंतु उसी कालखण्ड के इतिहासकारों ने यह साबित कर दिया कि यह केवल मिथक ही है और इसमें रत्ती भर भी सच्चाई नहीं है और हडप्पा मोहनजोदड़ो के पूर्वज भी आर्य (वैदिक) ही थे। मोहनजोदड़ो के वैदिक होने का प्रमाण खनन में प्राप्त मुदाओं से ज्ञात हुआ जिसमें से एक का विवरण निम्न है। "Photostat Of Plate No- CXII Seal No- 387 excavations at Mohanjo&Daro." इस सील में जो चित्र बना है वह ऋग्वेद की एक ऋचा से पूर्णतया मेल खाता है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। कुछ देशभक्त जैसे बाल गंगाधर तिलक भी इन अंग्रेजों की बातों में आ गए और उटपुटांग ढंग से लिखने लगे। उनसे जब पूछा गया तो उन्होंने बताया कि वे तो जो कुछ लिखे, अंग्रेजों के वैदिक अनुवाद का अध्ययन करके ही लिखे। भारत तो अब स्वतंत्र हो गया परंतु अंग्रेजों का बोया यह पौधा आज भी फल और फूल रहा है। ऐसी मूर्खता में भारतीय सरकार तथा लोग अब भी पड़े हैं इसका प्रमाण मुस्लिम इण्डिया का एक संस्करण है जो 27 मार्च सन् 1985 में छपा। भारतीय विद्यालयों में यही बताया, पढ़ाया जाता रहा, इसी से भारत का भविष्य ज्ञात हो जाता है। इस विक्षिप्त विचारधारा से भारत स्वतंत्रता के पश्चात् भी संक्रमित है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो श्रीमान् फ्रैंक एंन्थॉनी की नीची सोच थी जिसे उन्होंने 4 सितंबर सन् 1977 को संसद के सामने रखा।

वैदिक वांगमय का वर्गीकरण

वैदिकों का यह सर्वस्वग्रन्थ 'वेदत्रयी' के नाम से भी विदित है। पहले यह वेद ग्रन्थ एक ही था जिसका नाम यजुर्वेद था- एकैवासीद् यजुर्वेद चतुर्धाः व्यभजत् पुनः वही यजुर्वेद पुनः ऋक्-यजुस्-सामः के रूप में प्रसिद्ध हुआ जिससे वह 'त्रयी' कहलाया। बाद में वेद को पढ़ना बहुत कठिन प्रतीत होने लगा, इसलिए उसी एक वेद के तीन या चार विभाग किए गए। तब उनको ऋग्यजुसामके रूप में वेदत्रयी अथवा बहुत समय बाद ऋग्यजुसामाथर्व के रूप में चतुर्वेद कहलाने लगे। मंत्रों का प्रकार और आशय यानि अर्थ के आधार पर वर्गीकरण किया गया। इसका आधार इस प्रकार है -

वेदत्रयी

वैदिक परम्परा दो प्रकार की है - ब्रह्म परम्परा और आदित्य परम्परा। दोनों परम्पराओं में वेदत्रयी परम्परा प्राचीन काल में प्रसिद्ध थी। विश्व में शब्द-प्रयोग की तीन शैलियाँ होती हैं– पद्य (कविता), गद्य और गान। वेदों के मंत्रों के 'पद्य, गद्य और गान' ऐसे तीन विभाग होते हैं -

वेद का पद्य भाग - ऋग्वेद

वेद का गद्य भाग - यजुर्वेद

वेद का गायन भाग - सामवेद

पद्य में अक्षर-संख्या तथा पाद एवं विराम का निश्चित नियम होता है। अतः निश्चित अक्षर-संख्या तथा पाद एवं विराम वाले वेद-मन्त्रों की संज्ञा 'ऋक्' है। जिन मन्त्रों में छन्द के नियमानुसार अक्षर-संख्या तथा पाद एवं विराम ऋषिदृष्ट नहीं है, वे गद्यात्मक मन्त्र 'यजुः' कहलाते हैं और जितने मन्त्र गानात्मक हैं, वे मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन तीन प्रकार की शब्द-प्रकाशन-शैलियों के आधार पर ही शास्त्र एवं लोक में वेद के लिये 'त्रायी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। यजुर्वेद गद्यसंग्रह है, अतः इस यजुर्वेद में जो ऋग्वेद के छंदोबद्ध मंत्र हैं, उनको भी यजुर्वेद पढ़ने के समय गद्य जैसा ही पढ़ा जाता है।

चतुर्वेद

द्वापर युग की समाप्ति के पूर्व वेदों के उक्त चार विभाग अलग-अलग नहीं थे। उस समय तो ऋक्, यजुः और साम - इन तीन शब्द-शैलियों में संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्द-राशि ही वेद कहलाती थी। बाद में जब अथर्व भी वेद के समकक्ष हो गया, तब ये 'त्रायी' के स्थान पर 'चतुर्वेद' कहलाने लगे। गुरु के रुष्ट होने पर जिन्होने सभी वेदों को आदित्य से प्राप्त किया है उन याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में वेदत्रायी के बाद और पुराणों के आगे अथर्व को सम्मिलित कर बोला वेदोथर्वपुराणानि इति।

वर्तमान काल में वेद चार हैं- लेकिन पहले ये एक ही थे। वर्तमान काल में वेद चार माने जाते हैं। परंतु इन चारों को मिलाकर एक ही 'वेद ग्रंथ' समझा जाता था।

एकैवासीत्यजुर्वेदस्तंचतुर्धाःव्यवर्तयत् -गरुड पुराण

लक्षणतः त्रयी होते हुये भी वेद एक ही था, फिर उसको चार भागों में बाँटा गया।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मय - महाभारत

अन्य नाम

वेदों को सुनने से फैलने और पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद रखने के कारण व सृष्टिकर्ता ब्रहमाजी द्वारा भी अपौरुषेय वाणी के रूप में प्राप्त करने के कारण श्रुति, स्वतः प्रमाण के कारण आम्नाय, पुरुष (जीव) भिन्न ईश्वरकृत होने से अपौरुषेय इत्यादि नाम भी दिये जाते हैं।

वेद के पठन-पाठन के क्रम में गुरुमुख से श्रवण एवं याद करने का वेद के संरक्षण एवं सफलता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। वेद परिश्रमपूर्वक अभ्यास द्वारा संरक्षणीय है, इस कारण इसका नाम ''आम्नाय'' भी है। वेदों की रक्षार्थ महर्षियों ने अष्ट विकृतियों की रचना की है -जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्तो क्रमपूर्वा महर्षयः।। जिसके फलस्वरूप प्राचीन काल की तरह आज भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लूत और उदात्त, अनुदात्त स्वरित आदि के अनुरूप मन्त्रेच्चारण होता है।

साहित्यिक दृष्टि से

इसके अनुसार प्रत्येक शाखा की वैदिक शब्द-राशि का वर्गीकरण- उपर वर्णित प्रत्येक वेद के चार भाग होते हैं। पहले भाग मन्त्रभाग (संहिता) के अलावा अन्य तीन भाग को वेद न मानने वाले भी हैं लेकिन ऐसा विचार तर्कपूर्ण सिद्ध होते नहीं देखा गया हैं। अनादि वैदिक परम्परा में मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद एक ही वेद के चार अवयव है। कुल मिलाकर वेद के भाग ये हैं :-

संहिता मन्त्रभाग- यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त व विनियुक्त भाग।

ब्राह्मण-ग्रन्थ - यज्ञानुष्ठान में प्रयोगपरक मन्त्र का व्याख्यायुक्त गद्यभाग में कर्मकाण्ड की विवेचना।

आरण्यक - यज्ञानुष्ठान के आध्यात्मपरक विवेचनायुक्त भाग अर्थ के पीछे के उद्देश्य की विवेचना।

उपनिषद - ब्रह्म माया व परमेश्वर, अविद्या जीवात्मा और जगत के स्वभाव और सम्बन्ध का बहुत ही दार्शनिक और ज्ञानपूर्वक वर्णन वाला भाग। जैसा की कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रखण्ड में ही ब्राह्मण है। शुक्लयजुर्वेद मन्त्रभाग में ही ईशावास्योपनिषद है।

ऊपर के चारों खंड वेद होने पर भी कुछ लोग केवल 'संहिता' को ही वेद मानते हैं।

वर्गीकरण का इतिहास

द्वापरयुग की समाप्ति के समय श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी ने यज्ञानुष्ठान के उपयोग को दृष्टिगत रखकर उस एक वेद के चार विभाग कर दिये और इन चारों विभागों की शिक्षा चार शिष्यों को दी। ये ही चार विभाग ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिप्लाद, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक –चार शिष्यों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की शिक्षा दी। इन चार शिष्यों ने शाकल आदि अपने भिन्न-भिन्न शिष्यों को पढ़ाया। इन शिष्यों के द्वारा अपने-अपने अधीन वेदों के प्रचार व संरक्षण के कारण वे वैदिक ग्रन्थ, चरण, शाखा, प्रतिशाखा और अनुशाखा के माध्यम से अनेक रूपों में विस्तारित हो गये व उन्हीं प्रचारक ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। लेकिन अनेक विद्वानों का मानना है कि वेद आरंभ से ही चार हैं।

शाखा

पूर्वोक्त चार शिष्यों ने शुरु में जितने शिष्यों को अनुश्रवण कराया वे चरण समूह कहलाये। प्रत्येक चरण समूह में बहुत सी शाखाएं होती हैं और इसी तरह प्रतिशाखा, अनुशाखा आदि बन गए। वेद की अनेक शाखाएं यानि व्याख्यान का तरीका बतायी गयी हैं। ऋषि पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 101, सामवेद की 1001, अर्थववेद की 9 अतः इस प्रकार 1131 शाखाएं हैं परन्तु आज 12 शाखाओं के ही मूल ग्रन्थ उपलब्ध हैं। वेद की प्रत्येक शाखा की वैदिक शब्दराशि चार भागों में उपलब्ध है– 1. संहिता 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक 4. उपनिषद्। कुछ लोग इनमें संहिता को ही वेद मानते हैं। शेष तीन भाग को वेदों के व्याख्या ग्रन्थ मानते हैं। अलग अलग शाखाओं में मूल संहिता तो वही रहती है लेकिन आरण्यक और ब्राह्मण ग्रंथों में अन्तर आ जाता है। कई मंत्र भागों में भी उपनिषद मिलता है जैसा कि शुक्लयजुर्वेद मन्त्रभाग में इशावास्योपनिषद। पुराने समय में जितनी शाखाएं थीं उतने ही मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद होते थे। इतनी शाखायें होने के बाबजूद भी आजकल कुल 9 शाखाओं के ही ग्रंथ मिलते हैं। अन्य शाखाओं में किसी के मन्त्र, किसी के ब्राह्मण, किसी के आरण्यक तो किसी के उपनिषद ही पाया जाता है। इतना

ही नही, कई शाखाओं के तो केवल उपनिषद ही पाए जाते हैं, तभी तो उपनिषद अधिक मिलते हैं।

वेदों के विषय

वैदिक ऋषियों ने वेदों को जनकल्याण में प्रवृत्त पाया। निस्संदेह जैसा कि –रूयथेमां वाचं कल्याणिमावदानि जनेभ्य: वैसा ही वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता कालानुपूर्व्याभिहिताश्च यज्ञा: तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् वेदों की प्रवृत्ति: जनकल्यण के कार्य में है। वेद शब्द विद् धातु में घं प्रत्यय लगने से बना है। संस्कृत ग्रथों में विद् ज्ञाने और विद् लाभे जैसे विशेषणों से विद् धातु से ज्ञान और लाभ के अर्थ का बोध होता है।

वेदों के विषय उनकी व्याख्या पर निर्भर करते हैं–अग्नि, यज्ञ, सूर्य, इंद (आत्मा तथा बिजली के अर्थ में), सोम, ब्रह्म, मन–आत्मा, जगत्–उत्पत्ति, पदार्थों के गुण, धर्म (उचित–अनुचित), दाम्पत्य, ध्यान–योग, प्राण (श्वास की शक्ति) जैसे विषय इसमें बारंबार आते हैं। यज्ञ में देवता, द्रव्य, उद्देश्य,और विधि आदि विनियुक्त होते हैं। ग्रंथों के हिसाब से इनका विवरण इस प्रकार है –

ऋग्वेद

ऋग्वेद को चारों वेदों में सबसे प्राचीन माना जाता है। इसको दो प्रकार से बाँटा गया है। प्रथम प्रकार में इसे 10 मण्डलों में विभाजित किया गया है। मण्डलों को सूक्तों में, सूक्त में कुछ ऋचाएं होती हैं। कुल ऋचाएं 10627 हैं। दूसरे प्रकार से ऋग्वेद में 64 अध्याय हैं। आठ–आठ अध्यायों को मिलाकर एक अष्टक बनाया गया है। ऐसे कुल आठ अष्टक हैं। फिर प्रत्येक अध्याय को वर्गों में विभाजित किया गया है। वर्गों की संख्या भिन्न–भिन्न अध्यायों में भिन्न भिन्न ही है। कुल वर्ग संख्या 2024 है। प्रत्येक वर्ग में कुछ मंत्र होते हैं। सृष्टि के अनेक रहस्यों का इनमें उद्घाटन किया गया है। पहले इसकी 21 शाखाएं थीं परन्तु वर्तमान में इसकी शाकल शाखा का ही प्रचार है।

यजुर्वेद

इसमें गद्य और पद्य दोनों ही हैं। इसमें यज्ञ कर्म की प्रधानता है। प्राचीन काल में इसकी 101 शाखाएं थीं परन्तु वर्तमान में केवल पांच शाखाएं हैं–काठक, कपिष्ठल, मैत्रयणी, तैत्तिरीय, वाजसनेयी। इस वेद के दो भेद

हैं–कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद का संकलन महर्षि वेद व्यास ने किया है। इसका दूसरा नाम तैत्तिरीय संहिता भी है। इसमें मंत्र और ब्राह्मण भाग मिश्रित हैं। शुक्ल यजुर्वेद - इसे सूर्य ने याज्ञवल्क्य को उपदेश के रूप में दिया था। इसमें 15 शाखाएं थीं परन्तु वर्तमान में माध्यन्दिन को जिसे वाजसनेयी भी कहते हैं प्राप्त हैं। इसमें 40 अध्याय, 303 अनुवाक एवं 1975 मंत्र हैं। अन्तिम चालीसवां अध्याय ईशावास्योपनिषद है।

सामवेद

यह गेय ग्रन्थ है। इसमें गान विद्या का भण्डार है, यह भारतीय संगीत का मूल है। ऋचाओं के गायन को ही साम कहते हैं। इसकी 1001 शाखाएं थीं। परन्तु आजकल तीन ही प्रचलित हैं–कोथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय। इसको पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक में बांटा गया है। पूर्वार्चिक में चार काण्ड हैं–आग्नेय काण्ड, ऐन्द काण्ड, पवमान काण्ड और आरण्य काण्ड। चारों काण्डों में कुल 640 मंत्र हैं। फिर महानाम्न्यार्चिक के 10 मंत्र हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक में कुल 650 मंत्र हैं। छः प्रपाठक हैं। उत्तरार्चिक को 21 अध्यायों में बांटा गया। नौ प्रपाठक हैं। इसमें कुल 1225 मंत्र हैं। इस प्रकार सामवेद में कुल 1875 मंत्र हैं। इसमें अधिकतर मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। इसे उपासना का प्रवर्तक भी कहा जा सकता है।

अथर्ववेद

इसमें गणित, विज्ञान, आयुर्वेद, समाज शास्त्र, कृषि विज्ञान, आदि अनेक विषय वर्णित हैं। कुछ लोग इसमें मंत्र-तंत्र भी खोजते हैं। यह वेद जहां ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करता है, वहीं मोक्ष का उपाय भी बताता है। इसे ब्रह्म वेद भी कहते हैं। इसमें मुख्य रूप में अथर्वण और आंगिरस ऋषियों के मंत्र होने के कारण अथर्व आंगिरस भी कहते हैं। यह 20 काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड में कई-कई सूत्र हैं और सूत्रों में मंत्र हैं। इस वेद में कुल 5977 मंत्र हैं। इसकी आजकल दो शाखाएं शौणिक एवं पिप्पलाद ही उपलब्ध हैं। अथर्ववेद का विद्वान् चारों वेदों का ज्ञाता होता है। यज्ञ में ऋग्वेद का होता देवों का आह्वान करता है, सामवेद का उद्गाता सामगान करता है, यजुर्वेद का अध्वर्यु देवरूकोटीकर्म का वितान करता है तथा अथर्ववेद का ब्रह्म पूरे यज्ञ कर्म पर नियंत्रण रखता है।

उपवेद, उपांग

प्रतिपदसूत्र, अनुपद, छन्दोभाषा (प्रातिशाख्य), धर्मशास्त्र, न्याय तथा वैशेषिक- ये 6 दर्शन उपांग ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद- ये क्रमशः चारों वेदों के उपवेद कात्यायन ने बतलाये हैं।

स्थापत्यवेद - स्थापत्यकला के विषय, जिसे वास्तु शास्त्र या वास्तुकला भी कहा जाता है, इसके अन्तर्गत आता है।

धनुर्वेद - युद्ध कला का विवरण। इसके ग्रंथ विलुप्त प्राय हैं।

गन्धर्वेद - गायन कला।

आयुर्वेद - वैदिक ज्ञान पर आधारित स्वास्थ्य विज्ञान।

वेद के अंग

वेदांग

वेदों के सर्वांगीण अनुशीलन के लिये शिक्षा (वेदांग), निरुक्त, व्याकरण, छन्द, और कल्प (वेदांग), ज्योतिष के ग्रन्थ हैं जिन्हें 6 अंग कहते हैं। अंग के विषय इस प्रकार हैं -

शिक्षा - ध्वनियों का उच्चारण।

निरुक्त - शब्दों का मूल भाव। इनसे वस्तुओं का ऐसा नाम किस लिये आया इसका विवरण है। शब्द-मूल, शब्दावली, और शब्द निरुक्त के विषय हैं।

व्याकरण - संधि, समास, उपमा, विभक्ति आदि का विवरण। वाक्य निर्माण को समझने के लिए आवश्यक।

छन्द - गायन या मंत्रेच्चारण के लिए आघात और लय के लिए निर्देश।

कल्प - यज्ञ के लिए विधिसूत्र। इसके अन्तर्गत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र। वेदोक्त कार्य सम्पन्न करना और समर्पण करने में इनका महत्त्व है।

ज्योतिष - समय का ज्ञान और उपयोगिताद्य आकाशीय पिंडों (सूर्य, पृथ्वी, नक्षत्रों) की गति और स्थिति से। इसमें वेदांगज्योतिष नामक ग्रन्थ प्रत्येक वेद के अलग अलग थे। अब लगधमुनि प्रोक्त चारों वेदों के वेदांगज्योतिषों में दो ग्रन्थ ही पाए जाते हैं -एक आर्च पाठ और दूसरा याजुस् पाठ। इस ग्रन्थ में सोमाकर नामक विद्वान के प्राचीन भाष्य मिलता है साथ ही कौण्डिन्न्यायन संस्कृत व्याख्या भी मिलता है।

वैदिक स्वर प्रक्रिया

वैदिक स्वर लिखने की कला -

वेद की संहिताओं में मंत्र क्षरों में खड़ी तथा आड़ी रेखायें लगाकर उनके उच्च, मध्यम, या मन्द संगीतमय स्वर उच्चारण करने के संकेत किये गये हैं। इनको उदात्त, अनुदात्त घर स्वारित के नाम से अभिहित किया गया है। ये स्वर बहुत प्राचीन समय से प्रचलित हैं और महामुनि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में इनके मुख्य मुख्य नियमों का समावेश किया है।

स्वरों को अधिक या न्यून रूप से बोले जाने के कारण इनके भी दो-दो भेद हो जाते हैं। जैसे उदात्त-उदात्ततर, अनुदात्त-अनुदात्ततर, स्वरित-स्वरितोदात्त। इनके अलावा एक और स्वर माना गया है - श्रुति - इसमें तीनों स्वरों का मिलन हो जाता है। इस प्रकार कुल स्वरों की संख्या 7 हो जाती है। इन सात स्वरों में भी आपस में मिलने से स्वरों में भेद हो जाता है जिसके लिए स्वर चिह्नों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। यद्यपि इन स्वरों के अंकण और टंकण में कई विधियाँ प्रयोग की जाती हैं और प्रकाशक-भाष्यकारों में कोई एक विधा सामान्य नहीं है, अधिकांश स्थानों पर अनुदात्त के लिए अक्षर के नीचे एक आड़ी लकीर तथा स्वरित के लिए अक्षर के ऊपर एक खड़ी रेखा बनाने का नियम है। उदात्त का अपना कोई चिह्न नहीं है। इससे अंकण में समस्या आने से कई लेखक-प्रकाशक स्वर चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते।

वैदिक छंद

वैदिक मंत्रों में प्रयुक्त छंद कई प्रकार के हैं जिनमें मुख्य हैं -

गायत्री - सबसे प्रसिद्ध छंद। आठ वर्णों (मात्राओं) के तीन पाद। गीता में भी इसको सर्वोत्तम बताया गया है (ग्यारहवें अध्याय में)। इसी में प्रसिद्ध गायत्री मंत्र ढला है।

त्रिष्टुप - 11 वर्णों के चार पाद - कुल 44 वर्ण।

अनुष्टुप - 8 वर्णों के चार पाद, कुल 32 वर्ण। वाल्मीकि रामायण तथा गीता जैसे ग्रंथों में भई इस्तेमाल हुआ है। इसी को श्लोक भी कहते हैं।

जगती - 8 वर्णों के 6 पाद, कुल 48 वर्ण।

बृहती- 8 वर्णों के 4 पाद कुल 32 वर्ण

पंक्ति- 4 या 5 पाद कुल 40 अक्षर 2 पाद के बाद विराम होता है। पादों में अक्षरों की संख्याभेद से इसके कई भेद हैं।

उष्णिक- इसमें कुल 28 वर्ण होते हैं तथा कुल 3 पाद होते हैं 2 में आठ-आठ वर्ण तथा तीसरे में 12 वर्ण होते हैं दो पद के बाद विराम होता है बढ़े हुए अक्षरों के कारण इसके कई भेद होते हैं।

वेद की शाखाएँ

इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान ही वेद के शब्दों का मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टि के आरम्भ से ही यज्ञ करने में साधारणतया मन्त्रोच्चारण की शैली, मन्त्राक्षर एवं कर्म-विधि में विविधता रही है। इस विविधता के कारण ही वेदों की शाखाओं का विस्तार हुआ है। यथा-ऋग्वेद की 21 शाखा, यजुर्वेद की 101 शाखा, सामवेद की 1000 शाखा और अथर्ववेद की 9 शाखा- इस प्रकार कुल 1,131 शाखाएँ हैं। इस संख्या का उल्लेख महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में भी किया है। उपर्युक्त 1,131 शाखाओं में से वर्तमान में केवल 12 शाखाएँ ही मूल ग्रन्थों में उपलब्ध हैं:-

ऋग्वेद की 21 शाखाओं में से केवल 2 शाखाओं के ही ग्रन्थ प्राप्त हैं- शाकल-शाखा और शांखायन शाखा।

यजुर्वेद में कृष्णयजुर्वेद की 86 शाखाओं में से केवल 4 शाखाओं के ग्रन्थ ही प्राप्त हैं-तैत्तिरीय-शाखा, मैत्रयणीय शाखा, कठ-शाखा और कपिष्ठल-शाखा।

शुक्लयजुर्वेद की 15 शाखाओं में से केवल 2 शाखाओं के ग्रन्थ ही प्राप्त हैं-माध्यन्दिनीय-शाखा और काण्व-शाखा।

सामवेद की 1,000 शाखाओं में से केवल 2 शाखाओं के ही ग्रन्थ प्राप्त हैं-कौथुम-शाखा और जैमिनीय-शाखा।

अथर्ववेद की 9 शाखाओं में से केवल 2 शाखाओं के ही ग्रन्थ प्राप्त हैं- शौनक-शाखा और पैप्पलाद-शाखा।

उपर्युक्त 12 शाखाओं में से केवल 6 शाखाओं की अध्ययन-शैली प्राप्त है-शाकल, तैत्तरीय, माध्यन्दिनी, काण्व, कौथुम तथा शौनक शाखा। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि अन्य शाखाओं के कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनसे शाखा का पूरा परिचय नहीं मिल सकता एवं बहुत-सी शाखाओं के तो नाम भी उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य मतों की दृष्टि में वेद

जैसा कि उपर लिखा है, वेदों के कई शब्दों का समझना उतना सरल नहीं रहा है। वेदों का वास्तविक अर्थ समझने के लिए इनके भीतर से ही वेदांङ्गों का निर्माण किया गया। इसकी वजह इनमें वर्णित अर्थों को जाना नहीं जा सकता। सबसे अधिक विवाद-वार्ता ईश्वर के स्वरूप, यानि एकमात्र या अनेक देवों के सदृश्य को लेकर हुआ है। वेदों के वास्तविक अर्थ वही कर सकता है जो वेदांग-शिक्षा,कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का ज्ञाता है। यूरोप के संस्कृत विद्वानों की व्याख्या भी हिन्द-आर्य जाति के सिद्धांत से प्रेरित रही है। प्राचीन काल में ही इनकी सत्ता को चुनौती देकर कई ऐसे मत प्रकट हुए जो आज भी धार्मिक मत कहलाते हैं लेकिन कई रूपों में भिन्न हैं। इनका मुख्य अन्तर नीचे स्पष्ट किया गया है। उनमे से जिसका अपना अविच्छिन्न परम्परा से वेद, शाखा और कल्पसूत्रों से निर्देशित होकर एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को ईश्वर मानकर किसी एक देववाद में न उलझकर वेदवाद में रमण करते हैं वे वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म मानने वाले हैं वे ही वेदों को सर्वोपरि मानते है। इसके अलावा अलग अलग विचार रखने वाले और पृथक् पृथक् देवता मानने वाले कुछ सम्प्रदाय ये हैं-

जैन - इनको मूर्ति पूजा के प्रवर्तक माना जाता है। ये वेदों को श्रेष्ठ नहीं मानते पर अहिंसा के मार्ग पर जोर देते हैं।

बौद्ध - इस मत में महात्मा बुद्ध के प्रवर्तित ध्यान और तृष्णा को दु:खों का कारण बताया है। वेदों में लिखे ध्यान के महत्त्व को ये तो मानते हैं पर ईश्वर की सत्ता से नास्तिक हैं। ये भी वेद नहीं मानते।

शैव - वेदों में वर्णित रूद्र के रूप शिव को सर्वोपरि समझने वाले। अपने को वैदिक धर्म के मानने वाले शिव को एकमात्र ईश्वर का कल्याणकारी रूप मानते हैं, लेकिन शैव लोग शंकर देव के रूप (जिसमें नंदी बैल, जटा, बाघंबर इत्यादि हैं) को विश्व का कर्ता मानते हैं।

वैष्णव - विष्णु और उनके अवतारों को ईश्वर मानने वाले। वैदिक ग्रन्थौं से अधिक अपना आगम मतको सर्वोपरि मानते हैं। विष्णु को ही एक ईश्वर बताते हैं और जिसके अनुसार सर्वत्र फैला हुआ ईश्वर विष्णु कहलाता है।

शाक्त अपनेको वेदोक्त मानते तो हैं लेकिन् पूर्वोक्त शैव, वैष्णव से श्रेष्ठ समझते है, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप मे नवकोटी दुर्गा को इष्टदेवता मानते हैं वे ही सृष्टिकारिणी हैं ऐसा मानते हैं।

सौर जगत साक्षी सूर्य को और उनके विभिन्न अवतारों को ईश्वर मानते हैं। वे स्थावर और जंगम के आत्मा सूर्य ही हैं ऐसा मानते हैं।

गाणपत्य गणेश को ईश्वर समझते है। साक्षात् शिवादि देवों ने भी उनकी उपासना करके सिद्धि प्राप्त किया है, ऐसा मानते हैं।

सिख – इनका विश्वास एकमात्र ईश्वर में तो हैं, लेकिन वेदों को ईश्वर की वाणी नहीं समझते हैं।

आर्य समाज – ये निराकार ईश्वर के उपासक हैं। ये वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। ये मानते हैं कि वेद आदि सृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा आदि ऋषियों के अन्तस् में उत्पन्न हुआ। वेदों को अंतिम प्रमाण स्वीकार करते हैं। और वेदों के अनन्तर जिन पुराण आदि की रचना हुई इनको वेद विरुद्ध मानते हुए अस्वीकार करते हैं। रामायण तथा महाभारत के इतिहास को स्वीकार करते हैं। इस समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द हैं जिन्होंने वेदों की ओर लौटने का संदेश दिया। ये अर्वाचीन वैदिक हैं।

यज्ञ– यज्ञ के वर्तमान रूप के महत्त्व को लेकर कई विद्वानों, मतों और भाष्कारों में विरोधाभाष है। यज्ञ में आग के प्रयोग को प्राचीन पारसी पूजन विधि के इतना समान होना और हवन की अत्यधिक महत्ता के प्रति विद्वानों में रुचि रही है।

देवता– देव शब्द का लेकर ही कई विद्वानों में असहमति रही है। वेदोक्त निर्गुण- निराकार और सगुण- साकार में से अन्तिम पक्ष को मानने वाले कई मतों में (जैसे- शैव, वैष्णव और शाक्त सौर गाणपत, कौमार) इसे महामनुष्य के रूप में विशिष्ट शक्ति प्राप्त साकार चरित्र मसझते हैं और उनका मूर्ति रूप में पूजन करते हैं तो अन्य कई इन्हें ईश्वर (ब्रह्म, सत्य) के ही नाम बताते हैं। परोपकार (भला) करने वाली वस्तुएँ (यथा नदी, सूर्य), विद्वान लोग और मार्गदर्शन करने वाले मंत्रों को देव कहा गया है।

उदाहरणार्थ अग्नि शब्द का अर्थ आग न समझकर सबसे आगे यानि प्रथम यानि परमेश्वर समझते हैं। देवता शव्द का अर्थ दिव्य, यानि परमेश्वर (निराकार, ब्रह्म) की शक्ति से पूर्ण माना जाता है – जैसे पृथ्वी आदि। इसी मत में महादेव, देवों के अधिपति होने के कारण ईश्वर को कहते हैं। इसी तरह सर्वत्र व्यापक ईश्वर विष्णु और सत्य होने के कारण ब्रह्मा कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महादेव किसी चरित्र के नाम नहीं बल्कि ईश्वर के ही नाम हैं। व्याकरण और निरुक्त के वलपर ही वैदिक और लौकिक शब्दों के अर्थ निर्धारण किया

जाता है। इसके अभाव मे अर्थ के अनर्थ कर बैठते है। इसी प्राकर गणेश (गणपति), प्रजापति, देवी, बुद्ध, लक्ष्मी इत्यादि परमेश्वर के ही नाम हैं। वेदादि शास्त्रों मे आए विभिन्न एक ही परमेश्वर के है। जैसा की उपनिषदों में कहा गया है–एको देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कुछ लोग ईश्वर के सगुण- निर्गुण स्वरूप में झगडते रहते है। इनमें से कोई मूर्तिपूजा करते हैं और कोई ऐसे लोग है जो मूर्तिपूजा के विरूद्ध हैं और ईश्वर को एकमात्र सत्य, सर्वोपरि समझते हैं।

अश्वमेध– राजा द्वारा न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करना अश्वमेध यज्ञ कहलाता है। अनेक विद्वानों का मानना है कि मेध शब्द में अध्वरं का भी प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है अहिंसा। अतः मेध का भी अर्थ कुछ और रहा होगा। इसी प्रकार अश्व शब्द का अर्थ घोड़ा न रहकर शक्ति रहा होगा। श्रीराम शर्मा आचार्य कृत भाषयों के अनुसार अश्व शब्द का अर्थ शक्ति, गौ शब्द का अर्थ पोषण है। इससे अश्वमेध का अर्थ घोड़े का बलि से इतर होती प्रतीत होती है।

सोम– कुछ लोग इसे शराब (मद्य) मानते हैं लेकिन कई अनुवादों के अनुसार इसे कूट-पीसकर बनाया जाता था। अतः ये शराब जैसा कोई पेय नहीं लगता। पर इसके असली रूप का निर्धारण नहीं हो पाया है।

संस्कृत भाषा

संस्कृत (संस्कृतम्) भारतीय उपमहाद्वीप की एक भाषा है। इसे देववाणी अथवा सुरभारती भी कहा जाता है। यह विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। संस्कृत एक हिंद-आर्य भाषा है जो हिंद-यूरोपीय भाषा परिवार की एक शाखा हैं। आधुनिक भारतीय भाषाएँ जैसे, हिंदी, बांग्ला, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, नेपाली, आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं। इन सभी भाषाओं में यूरोपीय बंजारों की रोमानी भाषा भी शामिल है। संस्कृत में वैदिक धर्म से संबंधित लगभग सभी धर्मग्रंथ लिखे गये हैं। बौद्ध धर्म (विशेषकर महायान) तथा जैन मत के भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये हैं। आज भी हिंदू धर्म के अधिकतर यज्ञ और पूजा संस्कृत में ही होती हैं। भीम राव अम्बेडकर का मानना था कि संस्कृत पूरे भारत को भाषाई एकता के सूत्र में बांध सकने वाली इकलौती भाषा हो सकती है, अतः उन्होंने इसे देश की आधिकारिक भाषा बनाने का सुझाव दिया था।

भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में संस्कृत को भी सम्मिलित किया गया है। यह उत्तराखण्ड की द्वितीय राजभाषा है। आकाशवाणी और दूरदर्शन से संस्कृत में समाचार प्रसारित किए जाते हैं। कतिपय वर्षों से डी. डी. न्यूज (DD News) द्वारा वार्तावली नामक अर्धहोरावधि का संस्कृत-कार्यक्रम भी प्रसारित किया जा रहा है, जो हिन्दी चलचित्र गीतों के संस्कृतानुवाद, सरल-संस्कृत-शिक्षण, संस्कृत-वार्ता और महापुरुषों की संस्कृत जीवनवृत्तियों, सुभाषित-रत्नों आदि के कारण अनुदिन लोकप्रियता को प्राप्त हो रहा है।

संस्कृत का इतिहास बहुत पुराना है। वर्तमान समय में प्राप्त सबसे प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ ऋग्वेद है जो कम से कम ढाई हजार ईसापूर्व की रचना है।

व्याकरण

संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त परिमार्जित एवं वैज्ञानिक है। बहुत प्राचीन काल से ही अनेक व्याकरणाचार्यों ने संस्कृत व्याकरण पर बहुत कुछ लिखा है। किन्तु पाणिनि का संस्कृत व्याकरण पर किया गया कार्य सबसे प्रसिद्ध है। उनका अष्टाध्यायी किसी भी भाषा के व्याकरण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है।

संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के कई तरह से शब्द-रूप बनाये जाते हैं, जो व्याकरणिक अर्थ प्रदान करते हैं। अधिकांश शब्द-रूप मूलशब्द के अन्त में प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं। इस तरह ये कहा जा सकता है कि संस्कृत एक बहिर्मुखी-अन्त-श्लिष्टयोगात्मक भाषा है। संस्कृत के व्याकरण को वागीश शास्त्री ने वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है।

भारत और विश्व के लिए संस्कृत का महत्त्व

संस्कृत कई भारतीय भाषाओं की जननी है। इनकी अधिकांश शब्दावली या तो संस्कृत से ली गयी है या संस्कृत से प्रभावित है। पूरे भारत में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन से भारतीय भाषाओं में अधिकाधिक एकरूपता आयेगी जिससे भारतीय एकता बलवती होगी। यदि इच्छा-शक्ति हो तो संस्कृत को हिब्रू की भाँति पुनः प्रचलित भाषा भी बनाया जा सकता है।

हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि धर्मों के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत में हैं।

हिन्दुओं के सभी पूजा-पाठ और धार्मिक संस्कार की भाषा संस्कृत ही है।

हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के नाम भी संस्कृत पर आधारित होते हैं।

भारतीय भाषाओं की तकनीकी शब्दावली भी संस्कृत से ही व्युत्पन्न की जाती है। भारतीय संविधान की धारा 343, धारा 348 (2) तथा 351 का सारांश यह है कि देवनागरी लिपि में लिखी और मूलत: संस्कृत से अपनी पारिभाषिक शब्दावली को लेने वाली हिन्दी राजभाषा है।

संस्कृत, भारत को एकता के सूत्र में बाँधती है।

संस्कृत का साहित्य अत्यन्त प्राचीन, विशाल और विविधतापूर्ण है। इसमें अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का खजाना है। इसके अध्ययन से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति को बढ़ावा मिलेगा।

संस्कृत को कम्प्यूटर के लिये (कृत्रिम बुद्धि के लिये) सबसे उपयुक्त भाषा माना जाता है।

संस्कृत का अन्य भाषाओं पर प्रभाव

संस्कृत भाषा के शब्द मूलत: रूप से सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में हैं। सभी भारतीय भाषाओं में एकता की रक्षा संस्कृत के माध्यम से ही हो सकती है। मलयालम, कन्नड और तेलुगु आदि दक्षिणात्य भाषाएं संस्कृत से बहुत प्रभावित हैं।

संस्कृत का प्राकृत भाषाओं से तथा भारोपीय भाषाओं से सम्बन्ध

शिक्षा एवं प्रचार-प्रसार

'संस्कृतम्' शब्द विभिन्न लिपियों में लिखा हुआ।

भारत के संविधान में संस्कृत आठवीं अनुसूची में सम्मिलित अन्य भाषाओं के साथ विराजमान है। त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत संस्कृत भी आती है। हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं की वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली संस्कृत से निर्मित है।

भारत तथा अन्य देशों के कुछ संस्कृत विश्वविद्यालयों की सूची नीचे दी गयी है–(देखें, भारत स्थित संस्कृत विश्वविद्यालयों की सूची)

स्थापना वर्ष	नाम	स्थान
1791	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय	वाराणसी
1876	सद्विद्या पाठशाला	मैसूर

1961	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय	दरभंगा
1962	राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरूपति	तिरूपति
1962	श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ	नयी दिल्ली
1970	राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली	नयी दिल्ली
1981	श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय	पुरी
1986	नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय	नेपाल
1993	श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय	कालडी
1997	कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय	रामटेक
2001	जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय	जयपुर
2005	श्री सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय	वेरावल
2008	महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय	उज्जैन
2011	कर्नाटक संस्कृत विश्वविद्यालय	बंगलुरु

सन्दर्भ

"Comparative speaker's strength of scheduled languages &1971, 1981, 1991 and 2001"- Census of India, 2001- Office of the Registrar and Census Commissioner, भारत. अभिगमन तिथि 31 दिसम्बर 2009।

नैतिकता का मार्ग संस्कृत से होकर जाता है। (दिनेश कामत)

संस्कृत के पक्षधर थे आंबेडकर (डॉ. मुरली मनोहर जोशी)

Ambedkar wanted Sanskrit to be official language of India

Sagarika Dutt (2006)- India in a Globalized World- Manchester University Press- p- 36- ISBN 978-1-84779-607-3.

Gabriel J- Gomes (2012)- Discovering World Religions- iUniverse- p- 54- ISBN 978-1-4697-1037-2.

अमेरिकी पत्रिका (साइंटिफिक अमेरिकन) का दावा- संस्कृत मंत्रों के उच्चारण से बढ़ती है याददाश्त (जनवरी 2018)

Is Sanskrit the most suitable language for natural language processing?

Guide to OCR for Indic Scripts: Document Recognition and Retrieval (edited by Venu Govindaraju] Srirangaraj Ranga Setlur)

वैदिक संस्कृत
संस्कृत साहित्य
भारत की भाषाएँ
संस्कृत भाषा का इतिहास
संस्कृत का पुनरुत्थान
संस्कृत के विकिपीडिया प्रकल्प
संस्कृत विकिपीडिया
संस्कृत (संस्कृत विकोशः)
संस्कृत विकिस्रोतम् (Sanskrit Wikisource)
संस्कृत विकि पुस्तकानि (Sanskrit Wiki Books)

संस्कृत भाषा का इतिहास

जिस प्रकार देवता अमर हैं उसी प्रकार सँस्कृत भाषा भी अपने विशाल-साहित्य, लोक हित की भावना। विभिन्न प्रयासों तथा उपसर्गो के द्वारा नवीन-नवीन शब्दों के निर्माण की क्षमता आदि के द्वारा अमर है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार संस्कृत भाषा का अखंड प्रवाह पाँच सहस्र वर्षो से बहता चला आ रहा है। भारत में यह आर्यभाषा का सर्वाधिक महत्त्वशाली, व्यापक और संपन्न स्वरूप है। इसके माध्यम से भारत की उत्कृष्टतम मनीषा, प्रतिभा, अमूल्य चिंतन, मनन, विवेक, रचनात्मक, सर्जना और वैचारिक प्रज्ञा का अभिव्यंजन हुआ है। आज भी सभी क्षेत्रों में इस भाषा के द्वारा ग्रंथनिर्माण की क्षीण धारा अविच्छिन्न रूप से बह रही है। आज भी यह भाषा, अत्यंत सीमित क्षेत्र में ही सही, बोली जाती है। इसमें व्याख्यान होते हैं और भारत के विभिन्न प्रादेशिक भाषाभाषी पंडितजन इसका परस्पर वार्तालाप में प्रयोग करते हैं। हिंदुओं के सांस्कारिक कार्यो में आज भी यह प्रयुक्त होती है। इसी कारण ग्रीक और लैटिन आदि प्राचीन मृत भाषाओं (डेड लैंग्वेजेज) से संस्कृत की स्थिति भिन्न है। यह मृतभाषा नहीं, अमरभाषा है।

संस्कृत का अजीब तरीके से लुप्त होना वाकई अजीब है

भारत में संस्कृत भाषा का प्रयोग बंद होना एक अचंभे की बात है, कुछ लोग कहते हैं कि संस्कृत के कठिन होने के कारण इसे हटा दिया गया। परन्तु दुनिया की सबसे कठिन भाषा तो चीनी है, फिर उन्होंने चीनी भाषा का प्रयोग बंद क्यों नहीं कर दिया। संस्कृत का हमारे समाज से लुप्त हो कर हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में बदलना बड़ा ही अजीब है। ऐसा लगता है कि हिंदी एवं अन्य भाषाऐं संस्कृत को तोड़ मरोड़ कर बनी हैं, किसी ने संस्कृत भाषा को खत्म करने का प्रयास किया था तो विभिन्न जगह उससे विभिन्न भाषाओं का निर्माण हुआ। और एसा करने की एक ही वजह हो सकती है, क्योंकि हमारे सारे वेद एवं प्राचीन ग्रन्थ जो कि ज्ञान एवं रहस्य से भरपूर हैं वो सब संस्कृत में हैं। जिन्होंने भी संस्कृत भाषा को नष्ट करने का प्रयास किया वो ये नहीं चाहते थे कि हर कोई संस्कृत में लिखे वेदों एबं पुराणों का ज्ञान अर्जित कर सके एवं रहस्यों को उजागर कर सके। कुछ लोग मानते हैं, कि आधुनिक विज्ञान का जन्म संस्कृत के कुछ ज्ञान के बाहर आने कारण हुआ है।

नामकरण एवं विकासयात्रा

ऋक्संहिता की भाषा को संस्कृत का आद्यतम उपलब्ध रूप कहा जा सकता है। यह भी माना जाता है कि ऋक्संहिता के प्रथम और दशम मंडलों की भाषा प्राचीनतर है। कुछ विद्वान् प्राचीन वैदिक भाषा को परवर्ती पाणिनीय (लौकिक) संस्कृत से भिन्न मानते हैं। पर यह पक्ष भ्रमपूर्ण है। वैदिक भाषा अभ्रांत रूप से संस्कृत भाषा का आद्य उपलब्ध रूप है। पाणिनि ने जिस संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा है उसके दो अंश हैं –

(1) जिसे अष्टाध्यायी में "NanI" कहा गया है, और

(2) भाषा (जिसे लोकभाषा या लौकिक भाषा के रूप में माना जाता है)।

आचार्य पतंजलि के "व्याकरण महाभाष्य" नामक प्रसिद्ध शब्दानुशासन के आरंभ में भी वैदिक भाषा और लौकिक भाषा के शब्दों का उल्लेख हुआ है। "संस्कृत नाम दैंवी वागन्वाख्याता महर्षिभिरू" वाक्य में जिसे देवभाषा या 'संस्कृत' कहा गया है वह संभवत: यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के समय तक "छंदोभाषा" (वैदिक भाषा) एवं "लोकभाषा" के दो नामों, स्तरों व रूपों में व्यक्त थी।

बहुत से विद्वानों का मत है कि भाषा के लिए "संस्कृत" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथ वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड (30 सर्ग) में हनुमन् द्वारा विशेषणरूप में (संस्कृता वाक्) किया गया है। भारतीय परंपरा की किंवदंती के अनुसार संस्कृत भाषा पहले अव्याकृत थी, अर्थात उसकी प्रकृति एवं प्रत्ययादि का विश्लिष्ट विवेचन नहीं हुआ था। देवों द्वारा प्रार्थना करने पर देवराज इंद्र ने प्रकृति, प्रत्यय आदि के विश्लेषण विवेचन का उपायात्मक विधान प्रस्तुत किया। इसी "संस्कार" विधान के कारण भारत की प्राचीनतम आर्यभाषा का नाम "संस्कृत" पड़ा। ऋक्संहिताकालीन "साधुभाषा" तथा 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' और 'दशोपनिषद्' नामक ग्रंथों की साहित्यिक "वैदिक भाषा" का अनंतर विकसित स्वरूप ही "लौकिक संस्कृत" या "पाणिनीय संस्कृत" कहलाया। इसी भाषा को "संस्कृत", "संस्कृत भाषा" या "साहित्यिक संस्कृत" नामों से जाना जाता है।

विकास की दृष्टि से "संस्कृत" का अर्थ है - संस् (सांस् या श्वासों) से बनी (कृत्)। आध्यात्म एवं सम्प्रक-विकास की दृष्टि से "संस्कृत" का अर्थ है - स्वयं से कृत् या जो आरम्भिक लोगों को स्वयं ध्यान लगाने एवं परसपर सम्प्रक से आ गई। कुछ लोग संस्कृत को एक संस्कार (सांसों का कार्य) भी मानते हैं।

देश-काल की दृष्टि से संस्कृत के सभी स्वरूपों का मूलाधार पूर्वतर काल में उदीच्य, मध्यदेशीय एवं आर्यावर्तीय विभाषाएं हैं। पाणिनिसूत्रों में "विभाषा" या "उदीचाम्" शब्दों से इन विभाषाओं का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों में "प्राच्य" आदि बोलियाँ भी बोली जाती थीं। किन्तु पाणिनि ने नियमित व्याकरण के द्वारा भाषा को एक परिष्कृत एवं सर्वग्य प्रयोग में आने योग्य रूप प्रदान् किया। धीरे-धीरे पाणिनिसंमत भाषा का प्रयोगरूप और विकास प्रायः स्थायी हो गया। पतंजलि के समय तक आर्यावर्त (आर्यनिवास) के शिष्ट जनों में संस्कृत प्रायः बोलचाल की भाषा बन गई। "गादर्शा त्प्रत्यक्काल कवनाद्दक्षिणेन हिमवंतमुत्तरेण वारियात्रमेत स्मिन्नार्यावर्ते आर्या निवासे..... (व्याकरण महाभाष्य, 6.3.109)" उल्लेख के अनुसार शीघ्र ही संस्कृत समग्र भारत के द्विजातिवर्ग और विद्वत्समाज की सांस्कृतिक, विचाराकार एवं विचारादान्प्रदान् की भाषा बन गई।

काल विभाजन

संस्कृत भाषा के विकासस्तरों की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने अनेक रूप से इसका ऐतिहासिक कालविभाजन किया है। सामान्य सुविधा की दृष्टि से अधिक मान्य निम्नांकित कालविभाजन दिया जा रहा है -

(1) आदिकाल (वेद संहिताओं और वाङ्मय का काल - ई. पू. 450 से 10 ई. पू. तक)
(2) मध्यकाल (ई. पू. 10 से 450 ई. तक जिसमें शास्त्रों दर्शनसूत्रों, वेदांग ग्रंथों, काव्यों तथा कुछ प्रमुख साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ)
(3) परवर्तीकाल (450 ई. से लेकर 1400 ई. या अब तक का आधुनिक काल)।

इस युग में काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र, तंत्रशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि के ग्रंथों की रचना के साथ-साथ मूल ग्रंथों की व्याख्यात्मक, कृतियों की महत्त्वपूर्ण सर्जना हुई। भाष्य, टीका, विवरण, व्याख्यान आदि के रूप में जिन सहस्रों ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें अनेक भाष्य और टीकाओं की प्रतिष्ठा, मान्यता और प्रसिद्धि मूलग्रंथों से भी कहीं-कहीं अधिक हुई।

प्रामाणिकता के विचार से इस भाषा का सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी है। कम से कम 600 ई. पू. का यह ग्रंथ आज भी समस्त विश्व में अतुलनीय व्याकरण है। विश्व के और मुख्यतः अमरीका के भाषाशास्त्री संघटनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से अष्टाध्यायी को आज भी विश्व का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते हैं। "ब्रूमफील्ड" ने अपने "लैंग्वेज" तथा अन्य कृतियों में इस तथ्य की पुष्ट स्थापना की है। पाणिनि के पूर्व संस्कृत भाषा निश्चय ही शिष्ट एवं वैदिक जनों की व्यवहारभाषा थी। असंस्कृत जनों में भी बहुत सी बोलियाँ उस समय प्रचलित रही होंगी। पर यह मत आधुनिक भाषाविज्ञों को मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि संस्कृत कभी भी व्यवहारभाषा नहीं थी। जनता की भाषाओं को तत्कालीन प्राकृत कहा जा सकता है। देवभाषा तत्त्वतः कृत्रिम या संस्कार द्वारा निर्मित ब्राह्मणपंडितों की भाषा थी, लोकभाषा नहीं। परंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। पाणिनि से लेकर पतंजलि तक सभी ने संस्कृत का लोक की भाषा कहा है, लौकिक भाषा बताया है। अन्य सैकड़ों प्रमाण सिद्ध करते हैं कि "संस्कृत" वैदिक और वैदिकोत्तर पूर्वपाणिनिकाल में लोकभाषा और व्यवहारभाषा (स्पीकेन लैग्वेज) थी। यह अवश्य रहा होगा कि देश, काल और समाज के सन्दर्भ में उसकी अपनी सीमा रही होगी। बाद में चलकर वह पठित समाज की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा बन गई। तदनंतर यह समस्त भारत में सभी पंडितों की, चाहे वे आर्य रहें हों या आर्येतर जाति के - सभी की, सर्वमान्य सांस्कृतिक भाषा हो गई और आसेतुहिमाचल इसका प्रसार, समादर और प्रचार रहा एवं आज भी बना हुआ है। लगभग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से योरप

और पश्चिमी देशों के मिशनरी एवं अन्य विद्याप्रेमियों को संस्कृत का परिचय प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे पश्चिम में ही नहीं, समस्त विश्व में संस्कृत का प्रचार हुआ। जर्मन, अंग्रेज, फ्रांसीसी, अमरीकी तथा योरप के अनेक छोटे बड़े देश के निवासी विद्वानों ने विशेष रूप से संस्कृत के अध्ययन अनुशीलन को आधुनिक विद्वानों में प्रजाप्रिय बनाया। आधुनिक विद्वानों और अनुशीलकों के मत से विश्व की पुराभाषाओं में संस्कृत सर्वाधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और संपन्न भाषा है। वह आज केवल भारतीय भाषा ही नहीं, एक रूप से विश्वभाषा भी है। यह कहा जा सकता है कि भूमंडल के प्रयत्न-भाषा-साहित्यों में कदाचित् संस्कृत का वाङ्मय सर्वाधिक विशाल, व्यापक, चतुर्मुखी और संपन्न है। संसार के प्रायः सभी विकसित और संसार के प्रायः सभी विकासमान देशों में संस्कृत भाषा और साहित्य का आज अध्ययन-अध्यापन हो रहा है।

बताया जा चुका है कि इस भाषा का परिचय होने से ही आर्य जाति, उसकी संस्कृति, जीवन और तथाकथित मूल आद्य आर्यभाषा से संबद्ध विषयों के अध्ययन का पश्चिमी विद्वानों को ठोस आधार प्राप्त हुआ। प्राचीन ग्रीक, लातिन, अवस्ता और ऋक्संस्कृत आदि के आधार पर मूल आद्य आर्यभाषा की ध्वनि, व्याकरण और स्वरूप की परिकल्पना की जा सकी जिसे ऋक्संस्कृत का अवदान सबसे अधिक महत्त्व का है। ग्रीक, लातिन प्रत्नगाथिक आदि भाषाओं के साथ संस्कृत का पारिवारिक और निकट संबंध है। पर भारत-इरानी-वर्ग की भाषाओं के साथ (जिनमें अवस्ता, पहलवी, फारसी, ईरानी, पश्तो आदि बहुत सी प्राचीन नवीन भाषाएँ हैं) संस्कृत की सर्वाधिक निकटता है। भारत की सभी आद्य, मध्यकालीन एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास में मूलतः ऋग्वेद-एवं तदुत्तरकालीन संस्कृत का आधारिक एवं औपादानिक योगदान रहा है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक मानते हैं कि ऋग्वेदकाल से ही जनसामान्य में बोलचाल की तथाभूत प्राकृत भाषाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी। उन्हीं से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा तदुत्तरकालीन आर्यभाषाओं का विकास हुआ। परंतु इस विकास में संस्कृत भाषा का सर्वाधिक और सर्वविध योगदान रहा है। यहीं पर यह भी याद रखना चाहिए कि संस्कृत भाषा ने भारत के विभिन्न प्रदेशों और अंचलों की आर्येतर भाषाओं को भी काफी प्रभावित किया तथा स्वयं उनसे प्रभावित हुई, उन भाषाओं और उनके भाषणकर्ताओं की संस्कृति और साहित्य को तो प्रभावित किया ही, उनकी भाषाओं शब्दकोश उनकी ध्वनिमाला और लिपिकला को भी अपने योगदान से लाभान्वित किया। भारत की दो प्राचीन लिपियाँ- (1) ब्राह्मी

(बाएँ से लिखी जाने वाली) और (2) खरोष्टी (दाएँ से लेख्य) थीं। इनमें ब्राह्मी को संस्कृत ने मुख्यतः अपनाया।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत की ध्वनिमाला पर्याप्त संपन्न है। स्वरों की दृष्टि से यद्यपि ग्रीक, लातिन आदि का विशिष्ट स्थान है, तथापि अपने क्षेत्र के विचार से संस्कृत की स्वरमाला पर्याप्त और भाषानुरूप है। व्यंजनमाला अत्यंत संपन्न है। सहस्रों वर्षों तक भारतीय आर्यों के आद्यश्रुतिसाहित्य का अध्ययानाध्यापन गुरु शिष्यों द्वारा मौखिक परंपरा के रूप में प्रवर्तमान रहा क्योंकि कदाचित् उस युग में (जैसा आधुनिक इतिहासज्ञ लिपिशास्त्री मानते हैं), लिपिकला का उद्भव और विकास नहीं हो पाया था। संभवतः पाणिनि के कुछ पूर्व या कुछ बाद से लिपि का भारत में प्रयोग चल पड़ा और मुख्यतः "ब्राह्मी" को संस्कृत भाषा का वाहन बनाया गया। इसी ब्राह्मी ने आर्य और आर्यतर अधिकांश लिपियों की वर्णमला और वर्णक्रम को भी प्रभावित किया। यदि मध्यकालीन नाना भारतीय द्रविड़ भाषाओं तथा तमिल, तेलगु आदि की वर्णमाला पर भी संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का पर्याप्त प्रभाव है। ध्वनिमाला और ध्वनिक्रम की दृष्टि से पाणिनिकाल से प्रचलित संस्कृत वर्णमाला आज भी कदाचित् विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय वर्णमाला है। संस्कृत भाषा के साथ-साथ समस्त विश्व में प्रत्यक्ष या रोमन अकारांतक के रूप में आज समस्त संसार में इसका प्रचार हो गया है।

भाषावैज्ञानिक वर्गीकरण

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत भाषा आर्यभाषा परिवार के अंतर्गत रखी गई है। आर्यजाति भारत में बाहर से आई या यहाँ इसका निवास था - इत्यादि विचार अनावश्यक होने से यहाँ नहीं किया जा रहा है। पर आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों की मान्यता के अनुसार भारत यूरोपीय भाषाभाषियों की जो नाना प्राचीन भाषाएँ, (वैदिक संस्कृत, अवस्ता अर्थात् प्राचीनतम पारसी ग्रीक, प्राचीन गॉथिक तथा प्राचीनतम जर्मन, लैटिन, प्राचीनतम आइरिश तथा नाना बेल्ट बोलियाँ, प्राचीनतम स्लाव एवं बाल्टिक भाषाएँ, अरमीनियन, हित्ती, बुखारी आदि) थी, वे वस्तुतः एक मूलभाषा की (जिसे मूल आर्यभाषा, आद्य आर्यभाषा, इंडोजर्मनिक भाषा, आद्य-भारत-यूरोपीय भाषा, फादरलैंग्वेज आदि) देशकालानुसारी विभिन्न शाखाएँ थीं। उन सबकी उद्गमभाषा या मूलभाषा का आद्यआर्यभाषा

कहते हैं। कुछ विद्वानों के मत में-वीरा-मूलनिवासस्थान के वासी सुसंगठित आर्यों को ही "वीरोस" या वीरास् (वीरारू) कहते थे।

वीरोस् (वीरो) शब्द द्वारा जिन पूर्वोक्त प्राचीन आर्यभाषा समूह भाषियों का द्योतन होता है उन विविध प्राचीन भाषाभाषियों को विरास (संवीरारू) कहा गया है। अर्थात् समस्त भाषाएँ पारिवारिक दृष्टि से आर्यपरिवार की भाषाएँ हैं। संस्कृत का इनमें अन्यतम स्थान है। उक्त परिवार की "केंतुम्" और "शतम्" (दोनों ही शतवात्तक शब्द) दो प्रमुख शाखाएँ हैं। प्रथम के अंतर्गत ग्रीक, लातिन आदि आती हैं। संस्कृत का स्थान "शतम्" के अंतर्गत भारत-ईरानी शाखा में माना गया है। आर्यपरिवार में कौन प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम है यह पूर्णत: निश्चित नहीं है। फिर भी आधुनिक अधिकांश भाषाविद् ग्रीक, लातिन आदि को आद्य आर्यभाषा की ज्येष्ठ संतति और संस्कृत को उनकी छोटी बहिन मानते हैं। इतना ही नहीं भारत-ईरानी-शाखा की प्राचीनतम अवस्ता को भी संस्कृत से प्राचीन मानते हैं। परंतु अनेक भारतीय विद्वान् समझते हैं कि "जिन्द-अवस्ता" की अवस्ता का स्वरूप ऋक्भाषा की अपेक्षा नव्य है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि ग्रंथरूप में स्मृति रूप से अवशिष्ट वाङ्मय में ऋक्संहिता प्राचीनतम है और इसी कारण वह भाषा भी अपनी उपलब्धि में प्राचीनतम है। उसकी वैदिक संहिताओं की बड़ी विशेषता यह है कि हजारों वर्षों तक जब लिपि कला का भी प्रादुर्भाव नहीं था, वैदिक संहिताएँ मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा गुरुशिष्यों के समाज में अखंड रूप से प्रवहमान थीं। उच्चारण की शुद्धता को इतना सुरक्षित रखा गया कि ध्वनि और मात्राएँ, ही नहीं, सहस्रों वर्षों पूर्व से आज तक वैदिक मंत्रों में कहीं पाठभेद नहीं हुआ। उदात्त अनुदात्तादि स्वरों का उच्चारण शुद्ध रूप में पूर्णत: अविकृत रहा। आधुनिक भाषावैज्ञानिक यह मानते हैं कि स्वरों की दृष्टि से ग्रीक, लातिन आदि के "केंतुम्" वर्ग की भाषाएँ अधिक संपन्न भी हैं और मूल या आद्य आर्यभाषा के अधिक समीप भी। उनमें उक्त भाषा की स्वरसंपत्ति अधिक सुरक्षित हैं। संस्कृत में व्यंजनसंपत्ति अधिक सुरक्षित है। भाषा के संघटनात्मक अथवा रूपात्मक विचार की दृष्टि से संस्कृत भाषा को विभक्तिप्रधान अथवा "श्लिष्टभाषा" (एग्लुटिनेटिव लैंग्वेज) कहा जाता है।

संस्कृत व्याकरण

स्रोत :- नंद मौर्य राजवंश संस्कृत में व्याकरण की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत भाषा को शुद्ध रूप में जानने के लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन

किया जाता है। अपनी इस विशेषता के कारण ही यह वेद का सर्वप्रमुख अंग माना जाता है ('वेदांग'

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।

यस्याहं च द्वितीया स्याद् द्वितीया स्यामहं कथम्।।

– जिसके लिए "विहस्य" छठी विभक्ति का है और "विहाय" चौथी विभक्ति का है य "अहम् और कथम् (शब्द) द्वितीया विभक्ति हो सकता है। मैं ऐसे व्यक्ति की पत्नी (द्वितीया) कैसे हो सकती हूँ?

(ध्यान दें कि किसी पद के अन्त में 'स्य' लगने मात्र से वह षष्टी विभक्ति का नहीं हो जाता, और न ही 'आय' लगने से चतुर्थी विभक्ति का। विहस्य और विहाय ये दोनों अव्यय हैं, इनके रूप नहीं चलते। इसी तरह 'अहम्' और 'कथम्' में अन्त में 'म्' होने से वे द्वितीया विभक्ति के नहीं हो गये। अहम् यद्यपि म–में अन्त होता है फिर भी वह प्रथमपुरुषघ–एकवचन का रूप है। इस सामान्य बात को भी जो नहीं समझता है, उसकी पत्नी कैसे बन सकती हूँ? अल्प ज्ञानी लोग ऐसी गलती प्रायः कर देते हैं। यह भी ध्यान दें कि उन दिनों में लडकियां इतनी पढी–लिखी थीं वे मूर्ख से विवाह करना नहीं चाहती थीं और वे अपने विचार रखने के लिए स्वतन्त्र थीं।)

वचन

संस्कृत में तीन वचन होते हैं– एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन।

संख्या में एक होने पर एकवचन का, दो होने पर द्विवचन का तथा दो से अधिक होने पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

जैसे–

एक वचन

एकः बालकरूक्रीडति

द्विवचन

द्वौ बालकौ क्रीडतः।

बहुवचन

त्रयः बालकाः क्रीडन्ति।

लिंग

पुल्लिंग– जिस शब्द में पुरुष जाति का बोध होता है, उसे पुलिंग कहते हैं।(जैसे रामः, बालकः, सः आदि)

सरू बालकः अस्ति।

तौ बालकौ स्तः

ते बालकाः सन्ति।

स्त्रीलिंग- जिस शब्द से स्त्री जाति का बोध होता है, उसे स्त्रीलिंग कहते हैं। (जैसे रमा, बालिका, सा आदि)

सा बालिका अस्ति।

ते बालिके स्तः।

ताः बालिकाःसन्ति।

नपुंसकलिंग (जैसे–फलम् , गृहम, पुस्तकम , तत् आदि)

पुरुष

प्रथम पुरुष (थ्पतेज चमतेवद) - सरू, तौ, ते

मध्यम पुरुष (मबवदक चमतेवद) - त्वम्, युवाम्, यूयम्

उत्तम पुरुष (जेपतक चमतेवद) - अहं, आवाम्, वयम्

कारक

कारक नाम - वाक्य के अन्दर उपस्थित पहचान-चिह्न

कर्ता - ने (रामरू गच्छति।)

कर्म - को (जव) (बालकः विद्यालयं गच्छति।)

करण - से (इल), द्वारा (सः हस्तेन खादति।)

सम्प्रदान -को के लिये (वित) (निर्धनाय धनं देयं।)

अपादान - से (तिवउ) अलगाव (वृक्षात् पत्रणि पतन्ति।)

सम्बन्ध - का, की, के (वि), रा, री, रे, ना, नी, ने, (रामः दशरथस्य पुत्रः आसीत्।)

अधिकरण - में, पे, पर (पदध्वद) (यस्य गृहे माता नास्ति,)

सम्बोधन - हे,भो,अरे, (हे राजन् ! अहं निर्दोषः।)

वाच्य

संस्कृत में तीन वाच्य होते हैं- कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

कर्तृवाच्य में कर्तापद प्रथमा विभक्ति का होता है। छात्रः श्लोकं पठति- यहाँ छात्रः कर्ता है और प्रथमा विभक्ति में है।

कर्मवाच्य में कर्तापद तृतीया विभक्ति का होता है। जैसे, छात्रेण श्लोकः पठ्यते। यहाँ छात्रेण तृतीया विभक्ति में है।

अकर्मक धातु में कर्म नहीं होने के कारण क्रिया की प्रधानता होने से भाववाच्य के प्रयोग सिद्ध होते हैं। कर्ता की प्रधानता होने से कर्तृवाच्य प्रयोग सिद्ध होते हैं। भाववाच्य एवं कर्मवाच्य में क्रियारूप एक जैसे ही रहते हैं।

क्र	कर्तृवाच्य	भाववाच्य
1.	भवान् तिष्ठतु	भवता स्थीयताम्
2.	भवती नृत्यतु	भवत्या नृत्यताम्
3.	त्वं वर्धस्व	त्वया वर्ध्यताम्
4.	भवन्तः न सिद्यन्ताम्भवद्भिः न खिद्यताम्	
5.	भवत्यः उत्तिष्ठन्तु	भवतीभिः उत्थीयताम्
6.	यूयं संचरत	युष्माभिः संचर्यताम्
7.	भवन्तौ रुदिताम्	भवद्भयां रुद्यताम्
8.	भवत्यौ हसताम्	भवतीभ्यां हस्यताम्
9.	विमानम् उड्डयताम्	विमानेन उड्डीयताम्
10	सर्वे उपविशन्तु	सर्वैः उपविश्यताम्

लकार

संस्कृत में लट् , लिट् , लुट् , लृट् , लेट् , लोट् , लङ् , लिङ् , लुङ् , लृङ्-ये दस लकार होते हैं। वास्तव में ये दस प्रत्यय हैं जो धातुओं में जोड़े जाते हैं। इन दसों प्रत्ययों के प्रारम्भ में 'ल' है इसलिए इन्हें 'लकार' कहते हैं (ठीक वैसे ही जैसे घ्कार, अकार, इकार, उकार इत्यादि)। इन दस लकारों में से आरम्भ के छः लकारों के अन्त में 'ट्' है–लट् लिट् लुट् आदि इसलिए ये टित् लकार कहे जाते हैं और अन्त के चार लकार ङित् कहे जाते हैं क्योंकि उनके अन्त में 'ङ्' है। व्याकरणशास्त्र में जब धातुओं से पिबति, खादति आदि रूप सिद्ध किये जाते हैं तब इन टित् और ङित् शब्दों का बहुत बार प्रयोग किया जाता है।

इन लकारों का प्रयोग विभिन्न कालों की क्रिया बताने के लिए किया जाता है। जैसे-जब वर्तमान काल की क्रिया बतानी हो तो धातु से लट् लकार जोड़ देंगे, परोक्ष भूतकाल की क्रिया बतानी हो तो लिट् लकार जोड़ेंगे।

(1) लट् लकार (= वर्तमान काल) जैसे :- श्यामः खेलति। (श्याम खेलता है।)

(2) लिट् लकार (= अनद्यतन परोक्ष भूतकाल) जो अपने साथ न घटित होकर किसी इतिहास का विषय हो। जैसे :-- रामः रावणं ममार। (राम ने रावण को मारा।)

(3) लुट् लकार (= अनद्यतन भविष्यत् काल) जो आज का दिन छोड़ कर आगे होने वाला हो। जैसे :-- सः परश्वः विद्यालयं गन्ता। (वह परसों विद्यालय जायेगा।)

(4) लृट् लकार (= सामान्य भविष्य काल) जो आने वाले किसी भी समय में होने वाला हो। जैसे :--- रामः इदं कार्यं करिष्यति। (राम यह कार्य करेगा।)

(5) लेट् लकार (= यह लकार केवल वेद में प्रयोग होता है, ईश्वर के लिए, क्योंकि वह किसी काल में बंधा नहीं है।)

(6) लोट् लकार (= ये लकार आज्ञा, अनुमति लेना, प्रशंसा करना, प्रार्थना आदि में प्रयोग होता है।) जैसे :- भवान् गच्छतु। (आप जाइए) य सः क्रीडतु। (वह खेले) य त्वं खाद। (तुम खाओ) य किमहं वदानि। (क्या मैं बोलूँ ?)

(7) लङ् लकार (= अनद्यतन भूत काल) आज का दिन छोड़ कर किसी अन्य दिन जो हुआ हो। जैसे :- भवान् तस्मिन् दिने भोजनमपचत्। (आपने उस दिन भोजन पकाया था।)

(8) लिङ् लकार = इसमें दो प्रकार के लकार होते हैं :--

(क) आशीर्लिङ् (= किसी को आशीर्वाद देना हो) जैसे :- भवान् जीव्यात् (आप जीओ) य त्वं सुखी भूयात्। (तुम सुखी रहो।)

(ख) विधिलिङ् (= किसी को विधि बतानी हो।) जैसे :- भवान् पठेत्। (आपको पढ़ना चाहिए।) य अहं गच्छेयम्। (मुझे जाना चाहिए।)

(9) लुङ् लकार (= सामान्य भूत काल) जो कभी भी बीत चुका हो। जैसे :- अहं भोजनम् अभक्षत्। (मैंने खाना खाया।)

(10) लृङ् लकार (= ऐसा भूत काल जिसका प्रभाव वर्तमान तक हो) जब किसी क्रिया की असिद्धि हो गई हो। जैसे :- यदि त्वम् अपठिष्यत् तर्हि विद्वान् भवितुम् अर्हिष्यत्। (यदि तू पढ़ता तो विद्वान् बनता।)

इस बात को स्मरण रखने के लिए कि धातु से कब किस लकार को जोड़ेंगे, निम्नलिखित श्लोक स्मरण कर लीजिए–

लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्ध्याशिषोर्लिङ् लोटौ च लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

(अर्थात् लट् लकार वर्तमान काल में, लेट् लकार केवल वेद में, भूतकाल में लुङ् लङ् और लिट्, विधि और आशीर्वाद में लिङ् और लोट् लकार तथा भविष्यत् काल में लुट् लृट् और लृङ् लकारों का प्रयोग किया जाता है।)

लकारों के नाम याद रखने की विधि-

ल् में प्रत्याहार के क्रम से (अ इ उ ऋ ए ओ) जोड़ दें और क्रमानुसार (ट्) जोड़ते जाएं। फिर बाद में (ङ्) जोड़ते जाएं जब तक कि दश लकार पूरे न हो जाएँ। जैसे लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ्। इनमें लेट् लकार केवल वेद में प्रयुक्त होता है। लोक के लिए नौ लकार शेष रहे।

(3) कर्मधारय,
(4) बहुव्रीहि,
(5) अव्ययीभाव,
(6) द्विगु।

समास क्रिया पदों में नहीं होता। समास के पहले पद को 'पूर्व पद' कहते हैं, बाकी सभी को 'उत्तर पद' कहते हैं।

समास के तोड़ने को विग्रह कहते हैं, जैसे–"रामश्यामौ" यह समास है और रामः च श्यामः च (राम और श्याम) इसका विग्रह है।

पाठको को याद करने के लिये समास की ट्रिक - 'अब तक दादा' अ= अव्ययीभाव, ब= बहुव्रीहि, त= तत्पुरुष क= कर्मधारयः, द= द्वंद्व, और द= द्विगु।

संस्कृत व्याकरण शब्दावली

संस्कृत शब्द	तुल्य अंग्रेजी	पाणिनि द्वारा प्रयुक्त शब्द
विशेषण	adjective-	
adverb		
agreement		
महाप्राण	aspirated–	
आत्मनेपद	atmanepada–	

विभक्ति	case–	
प्रथमा	case 1 (subject)–	
द्वितीया	case 2 (object)–	
तृतीया	case 3 ("with")–	
चतुर्थी	case 4 ("for")–	
पञ्चमी	case 5 ("from")–	
षष्ठी	case 6 ("of")–	
सप्तमी	case 7 ("in")–	
संबोधन	case 8 (address)–	
causal verb	णिजन्त	
आज्ञा	command mood	लोट्
समास	compound (word)–	
संध्यक्षर	compound vowel	एच्
संकेत	conditional mood	लृङ्
व्यंजन	consonant	हल्
desiderative	सन्नन्त	
अनद्यतन	distant future tense	लुट्
परोक्षभूत	distant past tense	लिट्
अभ्यास	doubling–	
द्विवचन	dual (number)–	
द्वन्द्व	dvandva–	
स्त्रीलिङ्ग	feminine gender–	
उत्तम	first person–	
लिङ्ग	gender–	
gerund	क्त्वान्त	
grammatical case		
व्याकरण	grammar	
तालु	hard palate–	
गुरु	heavy (syllable)–	
intensive	यणन्त	
लघु	light (syllable)–	

ओष्ठ	lip–	
दीर्घ	long vowel–	
पुंलिङ्ग	masculine gender–	
गुण	medium vowel–	
अनुनासिक	nasal–	
नपुंसकलिङ्ग	neuter gender	
noun ending	lqI	
नामधातु	noun from verb	
दवनद्	lqcUr	
वचन	number	
कर्मन्	object–	
विधि	option mood	लङ्
भविष्यन्	ordinary future tense	
अनद्यतनभूत	ordinary past tense	लङ्
परस्मैपद	parasmaipada–	
participle		
पुरुष	person	पुरुष
बहुवचन	plural (number)	
स्थान	point of pronunciation	
prefix		
वर्तमान	present tense	लट्
–R	primary (suffix)	
सर्वनाम	pronoun–	
भूत	recent past tense	लुङ्
ऊष्मन्	"s"&sound–	
	sandhi–	
मध्यम	second person	मध्यम
तद्धित	secondary (suffiÛ)–	
अन्तःस्थ	semivowel	
ह्रस्व	short vowel–	
समानाक्षर	simple vowel–	

एकवचन	singular (number)–	
कण्ठ	soft palate	
प्रातिपदिक	stem (of a noun)–	
अङ्ग	stem (of any word)–	
स्पर्श	stop	
वृद्धि	strong vowel	
कर्तृ	subject	
प्रत्यय	suffix–	
अक्षर	syllable	
प्रथम	third person–	
दन्त	tooth	
उभयपद	ubhayapada	
अल्पप्राण	unaspirated	
अव्यय	uninflected word	अव्यय
अघोष	unvoiced	
गण	verb class–	
verb ending	तिङ्	
उपसर्ग	verb prefix	उपसर्ग
धातु	verb root-	
verb	frÄUr	
verbless sentence		
घोषवत्	voiced–	
स्वर	vowel	vP

4

आधुनिक भारतीय भाषाओं का परिचय

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्‌भव 1000 ई. के लगभग हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं का काल तबसे अब तक माना गया है। इस काल में प्रयुक्त भाषाओं की गणना आधुनिक भारत आर्यभाषाओं में की जाती है। इस वर्ग की भाषाओं के विकास के कुछ समय पश्चात् से सम्बन्धित साहित्य प्राप्त होता है। आधुनिक भारतीयआर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों में हुआ है। इसलिए इन दोनों वर्गों की भाषाओं में पर्याप्त समता है और अनेक भिन्न विशेषताओं का भी विकास हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर इन्हें अन्य वर्ग की भाषाओं से अलग कर सकते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ

पूर्वकालिक भाषाओं की ध्वनियों के आधार पर इस काल की भाषा की ध्वनियों में कुछ प्रमुख विकास इस प्रकार हुए हैं–

''ऋ'' का लिखित रूप में प्रयोग होता है, किन्तु उच्चारण स्वर के रूप में न होकर ''रि'' के रूप में होता है। ''ऋ'' का लिखित रूप में प्रयोग प्रायः तत्सम शब्दों में होता है, यथा– ऋषि, ऋतु आदि।

ऊष्म व्यंजन ध्वनियों-श, ष, स का लिखित रूप में पूर्ववत् प्रयोग होता है, किन्तु उच्चारण में ''श'' और ''स'' दो ही ध्वनियाँ हैं। ''ष'' ध्वनि का उच्चारण अब लगभग ''श'' के ही समान होता है, यथा-कोष - ''कोश'', ऋषि ''रिशि'', दोष - ''दोश''। वर्तमान समय में ''कोष'' के स्थान पर ''कोश'' शब्द का लिखित रूप भी प्रचलित हो गया है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ''ड'', ''ढ'' के साथ ''ड़'' और ''ढ़'' मूर्धन्य ध्वनियों का विकास हो गया है। इसके प्रयोग दृष्टव्य हैं- सड़क, तड़क, पढ़ना, गढ़ना आदि। इन ध्वनियों के लिखित तथा उच्चारित रूपों का स्पष्ट प्रयोग होता है।

''ज्ञ'' संयुक्ताक्षर का शुद्ध उच्चारण ''ज्ञ'' है, किन्तु आज इसके उच्चारण बदलकर ग्य, ग्यँ, ज्यँ रूप हो गए हैं, यथा- ज्ञान - ग्यॉन, ज्ञापन - ग्यापन, ग्याँपन, ज्याँपन। इनमें ''ग्य'' तथा ग्यँ के तो पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं, जबकि ज्यँ का अत्यन्त सीमित प्रयोग होता है।

विदेशी भाषाओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं में कुछ विदेशी ध्वनियों को स्थान मिल गया है। मुस्लिम प्रभाव वाली भाषाओं की क, ख, ग, ज, फ आदि ध्वनियाँ आ गई हैं, तो अंग्रेजी की आँ ध्वनि को भी स्थान मिल गया है।

शब्दों के अन्त का ''अ'' स्वर प्रायः लुप्त हो जाने से उनकी स्थिति व्यंजनांत हो जाती है, यथा-आज -'' आज्, नाम - नाम्, तन - तन् आदि।

शब्दों के मध्य का ''अ'' स्वर भी लुप्त होने लग गया है, यथा- किसका - किस्का, उसका - उस्का,उतना - उत्ना आदि।

संयुक्त व्यंजनों में क्षतिपूरक दीर्घाकरण नियम के अनुसार एक व्यंजन का लोप होता है और पूर्वऊस्व स्वर का दीर्घीकरण हो जाता है, यथा- कर्म - कम्म - काम, सप्त - सत्त - सात आदि। सिन्धी तथा पंजाबी भाषाएं इस संदर्भ के लिए अपवाद स्वरूप हैं। इसमें प्राकृत भाषा की ध्वनियों का अपरिवर्तित रूप आज भी प्रयुक्त होता है, यथा- कर्म - कम्म, अष्ट - अट्ठ आदि।

शब्द सम्बन्धी विशेषताएँ

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में शब्द वर्ग मुख्यतः तत्सम, तद्भव तथा देशज थे, किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में विदेशी शब्द-वर्ग विशेष रूप से उभर कर सामने आया है। इस वर्ग में अरबी, फारसी, तुर्की तथा

अंग्रेजी के शब्द मुख्य हैं। इन सभी भाषाओं के शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं, यथा- तत्सम शब्द-अगर, इमाम, डॉक्टर, टाइम, टी.वी. आदि। तद्भव शब्द-कर्ज, जादा, रेल, लालटेन, कप्तान आदि।

आधुनिक युग में मध्ययुग की अपेक्षा तत्सम शब्दों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। मध्ययुग में तद्भव शब्दों की संख्या आज की अपेक्षा कहीं अधिक थी। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक युग में अनुकरणात्मक शब्दों के ध्वन्यात्मक तथा प्रति-ध्वन्यात्मक आदि वर्गों के शब्दों का प्रयोग पहले की अपेक्षा कहीं अधिक होने लगा है। आजकल इस वर्ग के शब्दों के बहुल प्रयोग होने के कारण एक-एक शब्द के लिए दो या दो से अधिक प्रतिध्वन्यात्मक शब्दों का प्रचलन हो गया है, यथा-चाय-शाय-वाय-चूय आदि।

इस वर्ग की भाषाओं में परिभाषिक शब्द पर्याप्त संख्या में प्रयुक्त हुए हैं- यथा- अनहद, हठयोग, तदर्थ आदि।

आधुनिक युग में एक साथ अनेक भाषाओं का प्रयोग होने लगा है इसलिए इसमें सकर शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाते हैं, यथा- रेलगाड़ी, बेकाम, कर्जदार आदि।

व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों में भी पर्याप्त भिन्नता आ गई है। इस संदर्भकी कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) तथा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाएं नाम तथा धातु दोनों ही दृष्टियों से संयोगात्मक थीं, जबकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं वियोगात्मक हो गई हैं। पूर्व की भाषाओं की संयोगावस्था तथा वर्तमान की वियोगात्मक की परसर्गों के नाम रूपों के साथ प्रयोग तथासहायक क्रियाओं के धातु रूपों के साथ प्रयोग में देख सकते हैं, यथा- प्राचीन भा. आ. भाषा (संस्कृत) आधुनिक भा. आ. भा. (हिन्दी) रामः रावणाय अलम् राम रावण के लिए पर्याप्त है। रमेशः विद्यालयं गच्छति रमेश विद्यालय जाता है। त्व. आगच्छ। तुम जाओ-आ जाओ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग तथा नपुंसक तीनों लिंगों का प्रयोग होता था। अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्त्रीलिंग

तथा पुल्लिंग का ही प्रयोग मिलता है। तीन लिंगों का प्रयोग अब मात्र गुजराती तथा मराठी में मिलता है। लिंग-प्रयोग के संदर्भ में बंगला, उड़िया, असमी, बिहारी में सिमटती हुई लिंग-भेद स्थिति रेखांकन योग्य है।

संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता था, जो आज भी संस्कृत में प्रयुक्त होता है। भाषा-विकासघम में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग समाप्त हो गया है। अब दो वचनों–एक वचन और बहुवचन के ही रूप रह गए हैं, यथा- बालक - लड़का, बालकौ, बालकाः - लड़के। वर्तमान समय की कुछ भाषाओं में एकवचन तथा बहुवचन शब्दों के लिए एक ही रूप का प्रयोग शुरू हो गया है। हिन्दी की कुछ बोलियों में ''मैं'' के लिए भी ''हम'' शब्द एकवचन तथा बहुवचन दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है। बहुवचन को स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी ''हम'' के साथ ''लोग''या ''सब'' शब्द का प्रयोग कर ''हम लोग'' या ''हम सब'' बना लिया जाता है।

संस्कृत में कारकों के तीनों वचनों में भिन्नता होने के कारण 24 में रूप बनते हैं। यथा- ''राम'' शब्द प्रथमा-रामः रामौ रामाः सप्तमी-रामे रामयाः रामेषु आदि। आधुनिक भाषाओं में इसका सीमित प्रयोग भाषा की सरलता का आधार बन गया है। संस्कृत में क्रिया सम्बन्धी काल तथा लकारों मेंभी बहुत विविधता रहती थी, जबकि आधुनिक भाषाओं में यह भिन्नता अपेक्षाकृत कहीं कम ही कर सरल हो गई है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से हुआ है। इस संदर्भ में अपभ्रंश के सात रूप उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश आधुनिक भा. आ. भाषाएं

शौरसेनी-पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी
महाराष्टी-मराठी
मागधी-बिहारी, बंगला, उड़ीया, असमी
अर्ध मागधी-पूर्वी हिन्दी
पैशाची-लहंदा, पंजाबी
ब्राचड़-सिन्धी
खस-पहाड़ी
पश्चिमी हिन्दी

इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसमें बाँगरू (हरियाणवी) खड़ी-बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी तथा बुन्देली पांच मुख्य बोलियां मिलती हैं।

बांगरू– बांगरू नाम एक क्षेत्र विशेष, जो ऊंची भूमि से सम्बन्धित हो उसे ''बांगर'' कहते हैं, के आधार पर हुआ है। इसे जाट, देसाड़ी और हरियाणवी नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। आजकल इसे प्राय: हरियाणवी ही कहते हैं। हरियाणा में इसी बोली का प्रयोग होता है। हरियाणा का उद्‌भवभी हिन्दी की इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। हरियाणा का सीमा-निर्धारण भी इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। इस बोली के उद्‌भव के विषय में माना जाता है कि खड़ी-बोलीपर पंजाबी तथा राजस्थान के प्रभाव के आधार पर यह रूप सामने आया है। इस बोली के लोक-साहित्यका समृद्ध भण्डार है। इस बोली की लिपि देवनागरी है। बाँगरू को मुख्य उप वर्गों में विभक्त कर सकते हैं-

बाँगरू– यह केन्द्रीय बोली है। इसका केन्द्र रोहतक है। इस बोली का प्रयोग दिल्ली के निकट तक होता है। इसमें क्रिया ''है'' का ''सै'' के रूप में प्रयोग होता है। णकार बहुला बोली होने के कारण ''न'' ध्वनि प्राय: ''ण'' के रूप में प्रयुक्त होती है। श, "ज्ञ, स का स्थान ''स'' ध्वनिने ले लिया है।

मेवाती– मेव-क्षेत्र विशेष के आधार पर इसका नाम मेवाती पड़ा है। इसका केन्द्र रेवाड़ी है। इस बोली का प्रयोग झज्जर, गुड़गांव, बाबल तथा नूंह के कुछ अंश में होता है। इसे ब्रज, राजस्थानी और बांगरू का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें ''ण'' और ''ल'' का बहुत प्रयोग मिलता है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए ''ए'' के स्थान ''आँ'' का प्रयोग करते हैं, यथा-छोहरा- छोहरूं।

ब्रज– ब्रज क्षेत्र इसके नामकरण का आधार है। पलवल इसका केन्द्र है। इस बोली में ड और ल ध्वनि प्राय: ''र'' हो जाती है–ल - र ण् काला - कारा ड - र ण् कीड़ी - कीरी यह बोली ओकारान्त बहुला है–खाया - खायो गया - गयो।

अहीरवाटी– रेवाड़ी और महेन्द्रगढ़ का मध्य क्षेत्र इसका केन्द्र स्थल है। नारनौल से कोसाली तक और दिल्ली से आस-पास तक इस बोली का प्रयोग होता है। इसे मेवाती, राजस्थानी बाँगरू और बागड़ी का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें अकारात संज्ञा प्राय: ओकारान्त के रूप में मिलती है, यथा-था - था।

बागड़ी– बागड़ी संस्कृति से जुड़ी इस बोली का क्षेत्र भिवानी, हिसार, सिरसा के अतिरिक्त महेन्द्रगढ़ के कुछ भाग तक फैला है। इसकी लोप प्रक्रिया बाँगरू के समान है, यथा अहीर-झहीर, उठाना - ठाना, अनाज - नाज बहुवचन बनाने के लिए ''आं'' प्रत्यय का प्रयोग होता हैयजैसे-बात - बाताँ।

कौरवी– उत्तर प्रदेश के मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के अतिरिक्त हरियाणा के सोनीपत, पानीपत और करनाल तक इसका क्षेत्र फैला है। इसमें खड़ी-बोली की प्रवृत्ति मिलती है, यथा-है, ना (पाना, खाना)। व्यंजनों में द्वित्वीकरण प्रवृत्ति है, यथा-लोप-प्रक्रिया रोचक है-अनार झनार, उतार - तार।

अम्बावली– इसका प्रयोग क्षेत्र अम्बाला, यमुनानगर तथा कुरूक्षेत्र तक विस्तृत है। अम्बावली और कौरवी में बहुत कुछ साम्य है। वैसे इस पर पंजाबी, पहाड़ी तथा बाँगरू इसमें महाप्राण ध्वनिबलाघात से अल्पप्राण हो जाती है, यथा-हाथ - हात, साथ - सात आदि लोप प्रक्रिया केसमान है।

खड़ी-बोली– इस बोली का प्रयोग दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के कुछ जिलों में होता है। इसके दो रूप हैं-एक साहित्यिक हिन्दी, दूसरा उसी क्षेत्र की लोक-बोली। ''खड़ी-बोली'' के नाम के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसके खड़ेपन (खरेपन) अर्थात् शुद्धता के कारण इसे ''खड़ी-बोली'' कहते हैं, तो कुछ विद्वानों का कहना है कि खड़ी पाई (आ की मात्र'ा') के बहुल प्रयोग (आना, जाना, खाना आदि) के कारण इसे खड़ी-बोली की संज्ञा दी जाती है।इसका क्षेत्र दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, बिजनौर, मुरादाबाद तथा रामपुर के अतिरिक्त इनके समीपस्थ जनपदों के आंशिक भागों तक फैला हुआ है। खड़ी-बोली में साहित्य की दो शैलियाँहैं- पहली उर्दू प्रभावित, दूसरी तत्सम शब्दावली बहुला परिनिष्ठित शैली। भारत की राजभाषा, राष्ट्र-भाषा में भी इसी रूप को अपनाया गया है। वर्तमान समय में हिन्दी की साहित्यिक रचना मुख्यत: इसी में हो रही है।

ब्रज-भाषा– ब्रज क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली बोली को ब्रज-भाषा कहते हैं। ब्रज-भाषा मथुरा,आगरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी आदि जनपदों में बोली जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा को साहित्य रचना का मुख्य आधार बनाया गया इसमें रचना करने वाले मुख्य साहित्यकार हैं-सूरदास, नन्ददास, बिहारी, केशव तथा घनानन्द आदि। यह भाषा माधुर्य गुण सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध है।

कन्नौजी– यह कन्नौज विशेष क्षेत्र की बोली है, जिसका प्रयोग इटावा, फरूखाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई तथा कानपुर आदि जनपदों में होता है। कन्नौजी में लोक-साहित्य मिलता है, किन्तु साहित्यिक रचना का अभाव है।

बुन्देली– बुन्देलखण्ड में बोली जाने के कारण इसे बुन्देली कहते हैं। इसका क्षेत्र झांसी, छतरपुर, ग्वालियर, जालौन, भोपाल, सागर आदि जनपदों तक फैला हुआ है। इसमें साहित्यिक रचना का अभाव है, किन्तु समृद्धशाली लोक साहित्य है।

गुजराती

गुजराती का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। यह गुजरात की प्रान्त भाषा है। इस क्षेत्र में विदेशियों का आगमन विशेष रूप से होता है इसलिए इस पर विदेशी भाषा का प्रभाव पड़ा है। प्राकृतभाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द का जन्म बारहवीं शताब्दी में गुजरात में हुआ था। गुजराती के आदिकवि नरसिंह मेहता का आज भी सम्माननीय स्थान है। गुजराती में पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसकी लिपि पहले देवनागरी थी, अब देवनागरी से विकसित लिपि गुजराती है।

राजस्थानी

यह राजस्थान क्षेत्र या प्रदेश की भाषा है। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसक अंतर्गत चार प्रमुख बोलियाँ आती हैं- मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी और मालवी।

मेवाती– मेव जाति के क्षेत्र मेवाती के नाम पर यह बोली मेवाती कहलाई है। यह अलवर के अतिरिक्त हरियाणा के गुड़गाँव जनपद के कुछ अंश में बोली जाती है। ब्रज-क्षेत्र से लगे होने के कारण इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

जयपुरी– यह राजस्थान के पूर्वी भाग जयपुर, कोटा तथा बूंदी आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। इस क्षेत्र को ढँढाण कहने के आधार पर इसे ढुँढणी की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें लोक-साहित्य मिलता है। इसमें दादू पंथियों का पर्याप्त साहित्य मिलता है।

मारवाड़ी– यह पश्चिमी राजस्थान के जोधपुर, अजमेर, जैसलमेर तथा बीकानेर आदि जनपदों में बोली जाती है। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं। इसमें साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही रचा गया है। इसके प्रसिद्ध कवि

हैं-नरपति नाल्ह और पृथ्वीराज। मध्यकाल में मीराबाई ने इसी भाषा में रचना की थी।

मालवी– राजस्थान के दक्षिणी पर्व में स्थित मालवा क्षेत्र के नाम पर इसे मालवी कहते हैं। इन्दौर, उज्जैन तथा रतलाम आदि जनपद इसके क्षेत्र में आते हैं। इसमें सीमित साहित्य तथा पर्याप्त लोक-साहित्य मिलता है। चन्द-सखी इसकी प्रसिद्ध कवयित्री है।

मराठी

इसका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुआ है। महाराष्ट्र क्षेत्र या प्रदेश के नाम पर ही महाराष्ट्री और नाम पड़ा है विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने के कारण चार विभिन्न क्षेत्रों में इसके चार रूप उभर आए हैं मराठी का अपना समृद्ध साहित्य है। नामदेव, ज्ञानेश्वर, रामदास तथा तुकाराम आदि इसके प्रमुख कवि हैं। इसमें पर्याप्त सन्त साहित्य है। इसकी लिपि देवनागरी है।

बिहारी

इसका विकास मागधी से हुआ है। बिहारी क्षेत्र या प्रदेश में विकसित होने के कारण इसका नाम बिहारी रखा गया है। यह हिन्दी भाषा का ही रूप है। इसके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही तीन प्रमुख बोलियाँ आती हैं।

भोजपुरी– जनपदीय क्षेत्र भोजपूर इसका मुख्य केन्द्र होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यहबिहार तथा उत्तर-प्रदेश के सीमावर्ती जिलों भोजपुर, राँची, सारन, चम्पार, मिर्जापुर, जौनपुर, बलिय,गोरखपुर, बस्ती आदि में बोली जाती हैं। इसमें सीमित साहित्य, किन्तु समृद्ध लोकसाहित्य मिलता है।

मैथिली– जनपदीय क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मैथिली नाम दिया गया है। इसके क्षेत्र में दरभंगा, सहर और मुजफ्फरपुर तथा भागलपुर जनपद आते हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसे सम्पन्न भाषा मान सकते है। इस भाषा को लोक-साहित्य भी अपने सरस रूप के लिए प्रसिद्ध है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने इसी भाषा में अपनी अधिकांश कृतियों का सृजन किया है।

मगही– ''मागधी'' से विकसित होकर मगही शब्द बना है। ''मगध'' क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मगधी या मगाही नाम दिया गया है। गया जनपद के अतिरिक्त पटना, भागलपुर, हजारीबाग तथा मुंगेर आदि जनपदांशों में भी यही बोली जाती है।

बंगला

इसका विकास मागधी अपभ्रंश से हुआ है। बंगला इसका क्षेत्र है गाँव तथा नगर की बंगला में भिन्नता है। इसी प्रकार पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्र की बंगला में भी भिन्नता है। पूर्वी बंगला का मुख्य केन्द्र ढाका है, जो अब बांग्लादेश में है। हुगली नदी के निकट क्षेत्र की नगरीय बंगला ही साहित्यक भाषा बन गई है। परम्परागत तत्सम शब्दों की संख्या सर्वाधिक रूप में बंगला में ही मिलती है।

इसकी अनेक विशेषताओं में ''अ'' तथा ''स'' का ''श'' उच्चारण प्रसिद्ध है। बंगला साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न भाषा है। रविन्दनाथ ठाकुर, शरत्चन्द, बंकिमचन्द्र, चण्डीदास तथा विजयगुप्त आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार हैं। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री ''बंगाला'' का उद्भव एवं विकास के लेखक डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी का नाम भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसकी लिपि बंगला है, जो पुरानी नागरी से विकसित हुई है। देवनागरी और बंगला लिपि में पर्याप्त साम्य है।

उड़िया

उड़िया का विकास मागधी अप्रभ्रंश से हुआ है। उड़ीसा प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे उड़िया कहा जाता है। उड़ीसा को ''उत्काल' नाम से संबोधित किया जाता था, इसलिए इसे ''उत्कली'' भी कहते हैं। उड़िया का शुद्ध रूप ओड़िया है इसलिए इसे ''ओड़ी'' भी कहते है। बंगला तथा उड़िया भाषा में पर्याप्त समानता है। इस भाषा पर मराठी तथा तेलुगू का काफी प्रभाव है, क्योंकि यह क्षेत्र एक लम्बे समय तक ऐसे भाषा-भाषी राज्याओं के शासन में रहा है। इसमें परम्परागत तत्सम शब्द पर्याप्त रूप से कृष्ण भक्तिपरक रचनाएँ मिलती हैं। इसकी लिपि उड़िया है, पुरानी नागरी से विकसित हुई है।

असमी

मागधी अपभ्रंश से विकसित भाषाओं में असमी एक भाषा है। असमी, आसामी, असमिया, असामी आदि नामों से जानी जाने वाली यह भाषा आसाम या असम प्रान्त की भाषा है। इसमें तथा बंगला में बहुत कुछ साम्य है। यह साहित्य सम्पन्न भाषा है। इसके प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। इसके प्रसिद्ध साहित्यकार हैं-शंकरदेव, महादेव तथा सरस्वती आदि। इसकी लिपि बंगला है, किन्तु इसमें कुछ एक ध्वनि चिह्न सुधार लिए गए हैं।

पूर्वी-हिन्दी

पूर्वी हिन्दी का विकास अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र के पूर्व में होने से इसे पूर्वी हिन्दी का नाम दिया गया है। इसकी कुछ विशेषताएं पश्चिमी हिन्दी से मिलती हैं, तो कुछ बिहारी वर्ग की भाषाओं से। इसे तीन बोलियों-अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ में विभक्त करते हैं।

अवधी– यह पूर्वी हिन्दी की प्रमुख बोली है। अवध (अयोध्या) क्षेत्र की भाषा होने के कारण इसे अवधी कहते हैं। प्राचीन काल में अवध को ''कोशल'' भी कहा जाता था, इसलिए इसे कोसली भी कहते हैं। विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण इसे तीन उपवर्गों में विभक्त करते हैं। इसके क्षेत्र इस प्रकार हैं-

पूर्वी अवधी– फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, मिर्जापुर गोंडा।

केन्द्रीय अवधी– रायबरेली, बाराबंकी।

पश्चिमी अवधी– लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फतेहपुर, खीरीलखीमपुर। अवधी में साहित्य तथा लोक-साहित्य की परम समृद्ध परम्परा है। ठेठ तथा साहित्यिक अवधी में उन्नत साहित्य की रचना हुई है। मुल्लादाउद, कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास आदि अवधी के प्रमुख कवि हैं।

बघेली– बघेल खण्ड में बोली जाने के कारण इसे बघेली नाम दिया गया है। इसे बघेलखण्डी भी कहते हैं। इसका केन्द्र रीवाँ है। रीवाँ के आसपास शहडोल, सतना आदि में भी इसका प्रयोग होता है। इसमें लोक-साहित्य मिलता है।

छत्तीसगढ़ी– छत्तीसगढ़ के नाम पर इसे छत्तीसगढ़ी कहते हैं। रायपुर, विलासपुर, खैरागढ़ तथा कांके आदि तक इसका क्षेत्र माना गया है। इसमें पर्याप्त लोक-साहित्य मिलता है।

लहँदा

इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। लहँदा का अर्थ है-पश्चिमी। अब वह पश्चिमी पंजाब जो पाकिस्तान है, की भाषा है। यह पश्चिमी, पंजाबी, जटकी तथा 'हिन्दकी' के नाम से भी जानी जाती है। इस पर पंजाबी तथा सिन्धी भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसकी कई बोलियां विकसित हो गई हैं। इसकी लिपि लंडा है, किन्तु आजकल इसे गुरुमुखी या फारसी में लिखते हैं। इसमें उन्नत या विकसित साहित्य का अभाव है।

पंजाबी

पैशाची अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। पंजाब क्षेत्र की भाषा के कारण इसका नाम पंजाबी हुआ है। यह सिक्ख-साहित्य की मुख्य भाषा है। इस पर दरद का प्रभाव है। इस भाषा का केन्द्र अमृतसर है। पंजाबी भाषा की विभिन्न बोलियों में अधिक अन्तर नहीं है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य है। वर्तमान समय में इससे सम्बन्धित साहित्यकार साहित्यिक रचना में गतिशील हैं। उसकी लिपि गुरुमुखी है।

सिन्धी

इसका विकास ब्राचड़ या ब्रचट अपभ्रंश से हुआ है। सिन्ध क्षेत्र की भाषा होने के कारण इसे सिन्धी कहा गया है। सिन्ध क्षेत्र में सिन्धु नदी के तटीय भागों में यह भाषा बोली जाती है। इसकी कई बोलियाँ हैं, जिनमें बिचौली मुख्य है। इसका साहित्य अत्यन्त सीमित है। सिन्धी भाषा की लिपि लंडा है,किन्तु आजकल इसके लेखन में फारसी लिपि का भी प्रयोग किया जाता है।

पहाड़ी

इसका विकास 'खस' अपभ्रंश से हुआ है। इसका क्षेत्र हिमालय के निकटवर्ती भाग नेपाल से लेकर शिमला तक फैला है। कई बोलियों वाली इस भाषा को तीन उपवर्गों में विभक्त करते हैं–

पश्चिमी पहाड़ी– इसमें शिमला के आस-पास चम्बाली, कुल्लई आदि बोलियाँ आती हैं।

मध्य पहाड़ी– इसमें कुमायूं तथा गढ़वाल का भाग आता है। नैनीताल तथा अल्मोड़ा में बोली जाने वाली कुमायूनी तथा गढ़वाल, मंसूरी में बोली जाने वाली गढ़वाली बोलियाँ मुख्य हैं।

पूर्वी पहाड़ी– काठमाण्डू तथा नेपाल की घाटी में यह भाषा बोली जाती है। पहाड़ी बोलियों का समृद्ध लोक-साहित्य है। इसकी लिपि मुख्यतः देवनागरी है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

विश्व के समस्त भाषा-कुलों में भारतीय भाषाकुल का और इसमें भारतीय आर्य भाषाओं का विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मध्ययुगीन

भारतीय, आर्य भाषाओं का उद्‌भव और उससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। वर्तमान समय की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पर्याप्त विकास हुआ है। इसकी विभिन्न शाखाओं में भरपूर साहित्य रचना हो रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस परिवार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। वर्गीकरण प्रस्तुत करने वाले मुख्य भाषा-वैज्ञानिक हैं-हार्नले, बेबर, ग्रियर्सन, डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ0 धीरेन्द वर्मा, श्री सीताराम चतुर्वेदी, डॉ0 भोलानाथ तिवारी आदि।

हार्नले द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण के संबंध में प्रथम नाम हार्नले का आता है। उन्होंने आर्य के विषय में एक सैद्धान्तिक तथ्य सामने रखा है कि आर्य बाहर से भारत में दो बार आए हैं। इनके भारत प्रथम आगमन का मार्ग सिन्धु पार कर पंजाब से रहा है। दूसरी बार इनका आगमन कश्मीर की ओर से हुआ है। दूसरी बार आर्यों के आगमन पर पूर्वकाल में आए आर्य देश के कोने-कोने में फैल गए। दूसरी बार आए आर्य देश के मध्य भाग में बस गए। इस प्रकार हार्नले ने आर्यों के बहिरंग तथा अंतरंग वर्गों के आधार पर ही उनकी भाषाओं को भी वर्गीकृत किया है। इस आधार पर हार्नले ने अंतरंग और बहिरंग दो वर्ग बनाए।

हार्नले ने "Comparative Grammer of the Gaudian Languages" में एक भिन्न वर्गीकरण भी प्रस्तुतकिया है। इसमें उन्होंने विभिन्न दिशाओं के आधार पर भाषा-सीमा बनाने का प्रयत्न किया है। ये भाषा वर्ग हैं-

पूर्वी गौडियन– पूर्वी हिन्दी (बिहारी सहित), बंगला, उड़ीसा, असमी।

पश्चिमी गौडियन– पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी सहित), गुजराती, सिन्धी, पंजाबी।

उत्तरी गौडियन– पहाड़ी (गढ़वाली, नेपाली आदि)

दक्षिणी गौडियन– मराठी।

इस प्रकार हार्नले द्वारा प्रस्तुत किया गया आधुनिक भारतीय भाषाओं का आदि वर्गीकरण भले ही विस्तृत और पूर्ण वैज्ञानिक नहीं सिद्ध हो सका है, किन्तु इसका अपना विशेष महत्त्व है, इस वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि परिवर्ती वर्गीकरण अल्पाधिक रूप में इस पर आधारित है।

ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण

जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंका समुचित सर्वेक्षण करके उनकी विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए दो वर्गीकरण इस प्रकार हैं-

प्रथम वर्गीकरण

ग्रियर्सन ने हार्नल के बाह्य और आन्तरिक सिद्धान्त-वर्गीकरण को आंशिक आधार बनाकरआधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण किया है। उन्होंने इस वर्गीकरण में समस्त भाषाओं को मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया है।

1. बाहरी उपशाखा
   पश्चिमोत्तर वर्ग– लहँदा, सिन्धी।
   दक्षिणी वर्ग– मराठी।
   पूर्वी वर्ग– उड़िया, बंगला, असमी, बिहारी।
2. मध्यवर्ती उपशाखा मध्यवर्ती वर्ग
   पूर्वी हिन्दी।
3. भीतरी उपशाखा
   केन्द्रीय वर्ग– पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी (भीली, खानदेशी)
   पहाड़ी वर्ग– नेपाली (पूर्वी पहाड़ी), मध्य पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी।

ग्रियर्सन के मतानुसार विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त भाषाओं की ध्वनियों, शब्दों तथा उनके व्याकरणिक रूपों में पर्याप्त भिन्नता है। उन्हीं आधारों पर उन्होंने विभिन्न भाषाओं को उपशाखाओं में विभक्त किया है। डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ0 भोलानाथ तिवारी ने इस वर्गीकरण की विभिन्न दृष्टियों से आलोचना की है। इस वर्गीकरण के आधार और विशेषताओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से इस प्रकार विचार कर सकते हैं।

(क) ध्वन्यात्मक विशेषताएँ-ग्रियर्सन ने बाहरी उपशाखा की कुछ ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ, रेखांकित की हैं, जो भीतरी उपशाखा में नहीं हैं, यथा-

उनके अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में इ, उ तथा ए स्वरांत शब्दों की उक्त ध्वनियों का लोप नहीं होता है। यदि भीतरी उपशाखा की भाषाओं की ऐसी शब्दान्त ध्वनियों के विषय में देखें तो पाएँगे कि उनका लोप वहाँ भी नहीं होताय यथा-पति, पशु, मिले आदि।

इस शाखा में इ ध्वनि ए और उ ध्वनिओं में परिवर्तित हो जाती है। ऐसा ध्वनि-परिवर्तन बाहरी शाखा की भाषाओं में ही नहीं, भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलता है, यथा-इ - एः मिलना - मेल,तिल - तेल, उ - ओः सुखाना - सोखना, मुग्ध - मोह, तुही - तोही।

उक्त शाखाओं की भाषाओं की ''इ'' तथा ''उ'' ध्वनि आपस में एक-दूसरे के प्रयोग स्थान पर प्रयुक्त होती है। भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदा-कदा ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं, यथा-इ-उः बिन्दु, बुन्द।

ग्रियर्सन के अनुसार ''ड'' और ''ल'' के स्थान पर ''र'' का प्रयोग होता है। ऐसी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ भीतरी शाखा की भाषाओं में भी यदाकदा मिल जाती है, यथा- ड - र, किवाड़ - किवार, पड़गए - पर गए, सड़क - सरक ल - र, बल - बर, बिजली - बिजुरी, तले - तरेयह प्रवृत्ति अवधी तथा ब्रज में पर्याप्त रूप से मिलने के साथ खड़ी-बोली में भी अल्पाधिक रूप में मिल जाती है।

उनकी मान्यता है कि बाहरी शाखा की भाषाओं में द तथा ड ध्वनियाँ आपस में एक-दूसरे के स्थानपर प्रयुक्त होती है। ऐसी प्रवृत्ति तो भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है, यथा- द - डः दशन - डसना, दंड- डंड, ड्योढ़ी - देहली।

बाहरी शाखा की भाषाओं में 'म्ब' से ''म'' ध्वनि का विकास माना गया है, साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि भीतरी शाखा में ''म्ब'' का ''ब'' रूप होता है। दोनों उपशाखाओं के शब्दों की ध्वनियों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि इसके विपरीत प्रवृत्ति भी मिलती है। पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी में निम्ब से नीम, निबोली, जम्बुक से जामुन शब्द रूप हो जाते हैं, तो बंगला में निम्बुक से लेबू रूप हो जाता है।

उनके अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं में ''स'' ध्वनि श, ख, या ह के रूप में मिलती है। यदि बाहरी शाखा की पूर्वी वर्ग की बंगला तथा दक्षिणी वर्ग की मराठी भाषाओं में देखें तो यह ध्वनि ''श'' के रूप में प्रयुक्त होती है। बंगला की पूर्वी बोली तथा असमी में यह निर्बल ध्वनि ''ख'' के रूप में प्रयुक्त होती है। पश्चिमोत्तर वर्ग लहँदा तथा सिन्धी में यही ध्वनि ''ह'' के रूप में मिलती है। ग्रियर्सन द्वारा संकेत की गई उपशाखा की यह प्रवृत्ति भीतरी उपशाखा में भी मिलती है, यथा-द्वादश- बारह, केसरी - केहरी, पंच-सप्तति - पचहतर, कोस - कोह।

ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की भाषाओं की महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं। यदि भीतरी शाखाओं की भाषाओं के विषय में चिन्तन करें तो यह परिवर्तन इसमें भी मिलता है, यथा–भंगिनी– बहन या बहिन, ईठा प्राकृत) (इष्टक) – ईंट।

उनके अनुसार संयुक्त व्यंजन के मध्य स्थिति अर्ध–व्यंजन का लोप हो जाता है। क्षतिपूरक दीघ्री करण नियमानुसार पूर्व वर्ण का रूप दीर्घ हो जाता है। भीतरी शाखा की भाषाओं में भी ऐसे ध्वनि–परिवर्तनमिल जाते हैं, यथा– कर्म – काम, सप्त – सात, हस्त – हाथ, चर्म – चाम आदि।

इसमें अंतरस्थ ''र'' का लोप हो जाता है। यह प्रवृत्ति भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिलती है, यथा– ओर – औ, पर – पै।

इसमें ही ''ए'' का ''ऐ'' और ''ओ'' का ''औ'' होने की बाबत कही गई है, भीतरी शाखा की भाषाओं के उच्चारण में यदा–कदा ऐसे परिवर्तन मिल जाते है, यथा– सेमैस्टर – सैमेस्टर।

बाहरी शाखा की भाषाओं में ''द'' और ''ध'' के ''ज'' और ''झ'' होने की बात कही गई है। ये परिवर्तन भीतरी शाखा की भाषाओं में भी मिल जाते हैं।

(ख) व्याकरणिक विशेषताएँ

ग्रियर्सन ने ''ई'' प्रत्यय के प्रयोग के आधार पर बाहरी शाखा की भाषाओं को अलग किया है, किन्तु भीतरी शाखा की भाषाओं में ऐसी प्रवृति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में मिलती है, यथा– संज्ञा: लड़का – लड़की, मामा – मामी, दादा – दादी। विशेषण: अच्छा – अच्छी, गन्दा – गन्दी, पीला – पीली।? क्रिया: जाता – जाती, रोता – रोती, गाता है – गाती है। क्रियारू जाता–जाती रोता, गाताहै–गाती है।

उन्होंने बाहरी शाखा की भाषाओं के विशेषण शब्दों में ''ला'' तथा प्रयोग की बात कही है, जो भीतरी भाषाओं में मिलती है, यथा– पुल्लिंग विशेषण–गठीली, रंगीला, खचीला, कटीला। स्त्रीलिंग विशेषण–गठीली, रंगीली, खचीली, कटीली।

ग्रियर्सन के अनुसार संस्कृत संयोगात्मक भाषा थी। उसके पश्चात की भाषाएँ क्रमश: वियोगात्मक होती गई हैं। बाहरी शाखा की भाषाओं में आगे के विकास की बात कही गई अर्थात् उसमें पुन: संयोगात्मक रूप विकसित हो गए है। ''राम की किताब'' का बंगला रूपान्तरण ''रामेर बाई होता है।'' इसके

विपरीत भीतरी शाखा को भाषाओं के कारण रूपों के संयोगात्मक प्रयोग देख सकते है, यथा- अपने काम से मतलब है। तुमसे भी कहूँ। उनकी बात है।

क्रिया शब्दों तथा धातु रूपों में समानता की बात कही गई है। यह तथ्य न तो बाहरी शाखा की भाषाओं में पूर्णत: मिलता है और न ही भीतरी शाखा की भाषाओं में दोनों ही शाखाओं की भाषाओं में मिलने वाली ऐसी प्रवृति को भेदक आधार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भूतकालिक क्रिया का रूप कर्त्ता के अनुरूप प्रयुक्त होता है। यह प्रवृत्ति बाहरी शाखा की भाषाओं के अतिरिक्त पूर्वी हिन्दी में भी मिलती है– यथा-हम इमलि खायेन-(मैंने इमली खाई) हम आम खायेन-(मैंने आम खाया) बाहरी शाखा की भाषाओं में यह प्रवृत्ति केवल अकर्मक क्रिया के सन्दर्भ में ही मिलती है।

ग्रियर्सन के अनुसार भूतकालिक क्रिया के साथ आने वाला सर्वनाम क्रिया के साथ अन्तर्भूत होता है। बाहरी शाखा की सभी भाषाओं में यह प्रक्रिया नहीं मिलती है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट भेदक आधार नहीं है। बाहरी शाखा की भाषाओं के सभी वर्गो के शब्दों को सप्रत्यय माना है। यदि भीतरी शाखा की भाषाओं के शब्दों पर विचार करें तो ऐसी ही प्रकृति इसमें है, यथा-मै (मैंने), तै (तूने) बालहि(बालक को)।

(ग) शब्द विशेषताएँ– ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी शाखा की सभी भाषाओं के शब्दों में पर्याप्त समानता है। यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से भीतरी तथा बाहरी शाखाओं की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन करें, तो पाएँगे कि बंगला-लहँदा या बंगला-मराठी की अपेक्षा कहीं अधिक समता बंगला तथा हिन्दी में मिलती है। बिहारी तो वास्तव में हिन्दी का एक रूप है इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी शाखाओं की भाषाओं के विभिन्न शब्द-वर्गों और उनकी रचना में पर्याप्त समानता होने से वर्गीकरण का यह आधार भी वैज्ञानिक नहीं सिद्ध होता है।

(घ) वशांनुगत विशेषताए– आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बाहरी तथा भीतरी उपशाखा आधारित वर्गीकरण को पुष्ट आधार देने के लिए परिवार को दो उपवर्गों में विभक्त किया गया है। इस मन्तव्य के अनुसार बाहरी क्षेत्र के आर्य एक जाति के थे और भीतरी आर्य दूसरी जाति के थे। इस प्रकार भिन्न जाति के होने के कारण उनकी भाषा भी भिन्न बताई गई है। इस विचार के अनुसार बंगला, सिन्ध तथा महाराष्ट्र क्षेत्र के आर्य उत्तर-प्रदेश, गुजरात तथा राजस्थान आदि क्षेत्रों के आर्य दूसरी जाति के थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण

से यह मन्तव्य गलत सिद्ध होता है। इतिहास के अनुसार आर्य ही एक परिवार के थे।

द्वितीय वर्गीकरण

गिग्रसर्न ने बाद में हिन्दी को विशेष महत्त्व देते हुए एक नए ढगं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है इस वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं की समान विशेषताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

मध्य देशीय भाषाएँ-पश्चिमी हिन्दी

अन्तर्वत भाषाएँ-पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी (पश्चिमी हिन्दी से अधिक समता रखने वाली भाषाएँ), पूर्वी हिन्दी (बाहरी भाषाओं से समता रखने वाली भाषाएँ)

बाहरी भाषाएँ-1. पश्चिमोत्तरी भाषाएँ-लहँदा, सिन्धी 2. दक्षिणी भाषा -मराठी 3. पूर्वी भाषाएँ- बिहारी, उड़िया, बंगला, असमी।

डॉ0 ग्रियर्सन के द्वारा किए गए दोनों ही वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक कोटि में नहीं आते हैं, क्योंकि प्रथम वर्गीकरण की दोनों उपशाखाओं की ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक तथा शब्दगत विशेषताओं में स्पष्ट भेदक रेखा खींचना संभव नहीं है। आर्यों को बाहरी तथा भीतरी दो जातियों में विभक्त करना इतिहास के तथ्यों के विपरीत है। इनके द्वारा प्रस्तुत द्वितीय वर्गीकरण अधिक उपयोगी तथा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अब तक हुए वर्गीकरणों में ग्रियर्सन का वर्गीकरण निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

❐❐❐